कल्पना

कल्पना

डा० रांगेय राघव

राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली

मूल्य	:	दो रुपये पचास नये पैसे
प्रथम संस्करण	:	जनवरी, १९६१
प्रकाशक	:	राजपाल एण्ड सन्ज़, दिल्ली
मुद्रक	:	युगान्तर प्रेस, दिल्ली

नीला

यों ही जो इतने काम-धंधे हैं, उनके बीच ढेर सारे पत्रों में से मुझे ये कितने अजीब चार पत्र मिल गए हैं कि मेरा सारा काम चौपट हो गया है। खैर ! काम की भी कोई बात नहीं, लेकिन पराई मौत भी मुझे इतनी निकटता से छू जाएगी, इसकी तो मुझे सुपने में भी आशा नहीं थी। मैं अब क्रोध करूं अपनी विवशता पर, या अपने स्वार्थ के बोझ से दबा-सा विरक्त बन जाऊं, मैं यही निश्चित नहीं कर पा रहा हूं और इसीलिए मेरे सामने इतनी बड़ी उलझन आ गई है कि मैं उसे सुलझा नहीं पा रहा हूं। कौन-सा व्यक्ति संसार में ऐसा है, जिसे कुछ चिंताएं ऐसी नहीं हैं कि जो केवल उसीकी हैं। वह चाहे भी तो उन्हें दूसरों से बांट नहीं सकता। और वैसे इस विराट संसार में इन चार

पत्रों की बिसात ही क्या है, लेकिन फिर भी मैं इन्हें भूल नहीं पा रहा हूं, मतलब यह है कि शायद उनमें कुछ ऐसा है जो मुझे कहीं कचोट रहा है।

मैं जानता हूं कि जो कुछ हुआ है, उसमें न मेरी कोई सलाह ही है, न साज़िश। बस इतनी-सी बात है कि वे चारों ही मेरे परिचित हैं। लेकिन वात यह है, और यह एक बड़ी विचित्र-सी बात है, कि करने के नाम पर तो वे कुछ कर गए, पर असर उसका मुझे सता रहा है, हालांकि अगर मैं कंधे झकझोर दूं तो मुझे भी कोई चिंता नहीं।

फिर भी एक बिंदु मेरे सामने पहले पत्र से आता है। न जाने दूसरा पत्र उसे घुमाव क्यों देता है; तीसरा पत्र मुझे नीचे खींच ले जाता है और चौथे पत्र से रेखा टूट जाती है, एक निराधार-सा बिंदु नीचे जा ठहरता है। मुझे आश्चर्य तो यही है कि मेरी इस जिज्ञासा का प्रतीक बनकर मेरे सामने एक प्रश्नवाचक चिह्न खड़ा हो जाता है। मुझे इसका उत्तर देना है, क्योंकि भले ही उन चारों से मेरा संबंध नहीं रहा हो, फिर भी समस्या का सम्बन्ध न जाने क्यों मुंह बाये मुझे ग्रसने चला आ रहा है।

नीला का पत्र है। पहला भी, दूसरा भी, तीसरा भी। चौथा भी। मैं बहुत दिनों बाद घर लौटकर आया हूं, क्योंकि अपने एक नये उपन्यास की भौगोलिक स्थिति का परिचय प्राप्त करने मैं बाहर चला गया था। और इतने दिन बाद आते ही मैंने चारों को पढ़ा। मेरा तो मूड ही ऑफ हो गया। इस लिखने की भूख ने मुझे बरबाद कर दिया। चौबीसों घण्टे मेरा मस्तिष्क भरा रहता है। मेरे मन में जाने कितने लोकों की सृष्टि हुआ करती है। कितने मनुष्यों के जीवन का सहभोगी

हो गया हूं मैं। लोग एक ज़िन्दगी जीते हैं, और मैं हरएक के दर्द में डूब-डूब, जाने कितनी ज़िन्दगियों की तकलीफों की उलझन में फंस गया हूं।

नीली-सी शाम, नीली-सी साड़ी। नाम? नीला।

मेरे सामने दवात में स्याही भी नीली थी और नीला की लटें उसे जैसे पी गई थीं और आस्मान को काटकर उसने आंखों में चिपका लिया था।

'पुरुष सिगरेट क्यों पीते हैं?' उसने पहली ही भेंट में पूछा था।

मैं गया था सुशील के यहां। वहीं वह भी आई थी। सच तो यह है कि कोई मुझसे एकदम यह आशा करे कि मैं उसके समीप हो जाऊंगा, तो यह मुझे कभी पसंद नहीं आता। मैंने धुआं ढेर-ढेर उगला था और उसकी बात को जैसे उत्तर देने योग्य नहीं समझा था। मुझे यह भी पता नहीं था कि वह कौन थी। शायद मिसेज़ सुशील यानी चमेलीदेवी के पास कोई अड़ौस-पड़ौस की युवती आ गई होगी। शायद बी० ए० या एम० ए० तक के इम्तहान भी इसने पास कर लिए होंगे और या तो इसकी शादी हो चुकी होगी, या होने वाली होगी। ऐसा भी हो सकता है कि यह अपने योग्य यानी हर हालत में अपने से अधिक योग्य पुरुष पाने के लिए कोई व्रत भी रखती होगी, क्योंकि इसके जीवन की अब इसके सामने एक ही सार्थकता है कि इसे जीवन-संगी मिल जाए। वह गधा क्या, जो खूंटे से बंधा न हो! (धोबियों से माफी चाहता हूं।)

लेकिन नीला को इतनी-सी उपेक्षा से कोई हानि नहीं लगी। स्वतः ही बोली: 'यूरोप की स्त्रियां तो खूब सिगरेटें पीती हैं।'

मिसेज़ सुशीला ने अपने बड़प्पन में मुस्कराकर डांटा था : 'तुम भी नीला ! एकदम कॉपी (नकल) करने पर तुल गई हो। अरे हम इण्डियन्स (भारतीय) हैं, और हमें अपनी एण्टिटी (अलग सत्ता—महत्त्व) को इस तरह सरैण्डर (समर्पित) करने की नैसैसिटी (आवश्यकता) ही क्या है ? देखो ! भारतीय नारी ने अपनी ड्रैस (पोशाक) नहीं छोड़ी। पढ़-लिखकर सारे पुरुष तो कोट-पैंट पहनने लगे हैं।'

'भाभीऽऽऽऽ', नीला ने कहा था : 'नहीं तो क्या पहनें वे लोग। मुझे तो सच वही ड्रैस पसन्द है। धोती, कुर्ता, अचकन, पैजामा···· समथिंग (कुछ) मिडिएवल (मध्यकालीन) सा लगता है। सोसायटी (समाज) में वह अब आउट आफ डेट (पिछड़ा हुआ) सा लगता है। तुम्हीं बताओ अगर सुशील भइया····।'

सुशील ने हवाना सिगार सुलगाते हुए कहा था : 'यार ! सिगार तो हवाना का। चर्चिल ने पिया या फिर हमने पिया।'

बात वहीं हंसी में खत्म हो गई थी। सो वही नीला थी और वही नीला है। वही तो मैं कैसे कह दूं क्योंकि समय में सब कुछ बदलता है, और वह भी बदली है, उसके शरीर का अणु-परमाणु भी निरंतर बदलता रहा है, मन की तो बात ही क्या ?

वह नीला जाने कैसे मुझसे ज़्यादा बातें करने लगी और कभी-कभी मैं भी उससे बातें कर लेता, लेकिन मुझपर उसने कभी कोई ऐसा असर नहीं डाला कि बाद में मेरे दिमाग में उसकी सूरत की किसी खिड़की में से उसकी याद का उजाला आया हो, या जिसने अंधेरा किया हो।

यह कहना कि वह कुछ सोचा करती थी, मेरे लिए कोई अह-

मियत नहीं रखता था, क्योंकि जब-जब भी मैंने लालटैन के गिर्द घूमते चींटे को दूर सरकाया है, और चींटे ने रुककर इधर-उधर देखा है, तब वह भी मुझे बड़ी चिंता-सी में उलझा हुआ दिखाई दिया है।

यह कैसा अजीब विचार है। क्या संसार में कोई ऐसा प्राणी है, जो दूसरों के बल पर अपने को जीवित नहीं रखना चाहता? मैं तो यह देखता हूं कि जीव जीव को खाकर रहता है। कोई किसीको नहीं छोड़ता।

मिसेज सुशील ने स्वेटर बुनते हुए मुझसे कहा : 'नीला की शादी हो रही है।'

मैं चित्र देख रहा था। मैंने कहा, 'हूं।'

वे चिढ़ीं।

'तुमने सुना!'

'सुन लिया।'

वे और चिढ़ीं।

मैं चुप रहा। मैं जान-बूझकर अपनी राय देने की आदत को रोक चुका हूं। जहां अपनी सलाह नहीं मांगी जाए, वहां बोलकर व्यर्थ अपने शब्दों को नष्ट क्यों किया जाए, लेकिन मिसेज सुशील को ऐसा लगा जैसे वे एक बहुत बड़ी बात कह रही थीं। बोलीं : 'अकेला आदमी!!'

उन्होंने मुझपर व्यंग्य किया और कुछ संतोष से मुस्कराईं।

जैसे मैं अविवाहित था तो सामाजिक प्राणी भी नहीं था। गोया स्त्री से दूसरों से न कहने योग्य सम्बन्ध जब तक स्थापित न कर लिए जाएं, तब तक उनकी दृष्टि में मैं कुछ हूं ही नहीं। मैं नहीं बोला। चुपचाप चित्र देखता रहा।

'क्या देख रहे हो ?' वे ऊबकर बोलीं।

स्त्री कोई भी हो। आपको अकेला पढ़ते देखेगी तो आकर बातें करना शुरू कर देगी, गोया पढ़ना इसकी नजर में तभी महत्वपूर्ण है, जब आपको कोई परीक्षा देनी हो। अब उन बातों में आपको अगर दिलचस्पी नहीं है, तो आप नीरस हैं, और अहंकारी हैं, आप अपने को बड़ा भारी दार्शनिक समझते हैं; जब कि आप हैं कुछ भी नहीं।

मैंने कहा : 'दूसरे महायुद्ध के फोटो हैं।'

'इन्हें देखने से क्या फायदा ?'

मैं विचलित हो उठा। लेकिन मैं जानता था कि मैं तर्क में जीत नहीं सकूंगा। मैंने कहा : 'ऐसे ही।'

मिसेज़ सुशील ने अपनी जीत महसूस की और 'ऐसे ही' की जगह अपनी समझ में बड़ी दिलचस्प बात पेश की : 'नीला का होने वाला पति डॉक्टर है।'

मैंने कहा : 'अच्छा।'

मिसेज़ सुशील समझी नहीं कि मैंने किस मुद्रा में कहा। वे बात को फैलाती हुई बोलीं : 'डॉक्टरी नई-नई पास की है। कमाने लगेगा।'

कुछ प्रश्न, कुछ वक्तव्य, कुछ आशंका, ऐसी ही मिली-जुली

ध्वनियां उस 'कमाने लगेगा' से प्रगट हुई। मैंने कहा: 'किस्मत भी तो है।'

'तो तुम किस्मत को मानते हो भैया ?'

मैंने आंखें उठाकर कहा : 'क्यों ? क्यों न मानूंगा मैं, किस्मत तो बहुत बड़ी बात होती है।'

'अच्छा !!' वे बोलीं, 'तब भला बताओ न ?'

'क्या ?'

'तो ठीक रहा न ?'

मैं उत्तर क्या देता। मैंने कहा : 'ठीक-गलत तो भगवान जाने। ठीक ही है। पर मैं नहीं समझ पाता कि इसमें इतनी विशेषता क्या है ? दुनिया में सैकड़ों शादियां होती हैं। औरतों की बेकारी मिटाने का और कोई तरीका भी तो इस पितृसत्ता में नहीं है।'

मिसेज सुशील चेत गईं क्योंकि सीधा वार उन्हींपर था। बोलीं : 'तुम तो सिद्धांत से आदर्शवादी हो। तुम तो स्त्रियों के विरुद्ध हो। औरतें ऐसी होती हैं, औरतें वैसी होती हैं। कभी तुमने किसी औरत की तारीफ भी की है !'

'क्यों नहीं। मैं समझता हूं कि मैं हमेशा अपनी मां की प्रशंसा करता हूं।'

'अरे, अपनी मां की प्रशंसा करना तो पुरुषों की पुरानी चाल है, क्योंकि वह खिला-पिलाकर पालती है।'

'कायदे की बात है', मैंने कहा : 'जिससे मुझे लाभ होगा, मैं उसीकी तो प्रशंसा करूंगा।'

'स्वार्थ।' मिसेज सुशील ने कहा : 'स्वार्थ ही पुरुष की जड़ है।'

'तुम !' मैंने कहा : 'मिस्टर सुशील का जितना खयाल रखती हो, उतना सड़क के पार पान बेचने वाले का क्यों नहीं रखतीं ?'

मिसेज़ सुशील गुस्से से तमतमा उठीं। बोलीं : 'तुम बड़े मुंहफट हो। तमीज़ से बात भी नहीं कर सकते !'

'अरे भई। मेरा मतलब समझो। तैश में क्यों आती हो ?'

उसी वक्त पर्दे का किनारा हिला। हंसती हुई नीला भीतर आई और उसने कहा : 'भाभी अपने पति का ध्यान अधिक रखेंगी कि किसी और का।' फिर जैसे उसने भाभी को समझाते हुए कहा : 'नहीं भाभी, सैद्धान्तिक बातों में ऐसे मसले भी छिड़ ही जाते हैं।'

उसकी सहिष्णुता से मैं प्रसन्न हुआ।

भाभी कुछ रुष्ट ही रहीं।

'किस बात की चर्चा हो रही थी ?' नीला ने बैठते हुए कहा।

मैंने कहा : 'बात यह थी कि तुम्हारी शादी के बारे में ये मुझे सूचना दे रही थीं। मैंने कोई राय नहीं दी। बस इसीसे ये नाराज़ हैं।'

मिसेज़ सुशील ने कहा : 'वाह ! वाह ! क्या सफाई है। मैं इस बात पर क्यों नाराज़ होने लगी। बात तो वह थी। वह कहिए। मैं तो उनके आने पर ज़रूर कहूंगी।'

'मैं भी आ गया हूं।' सुशील ने भीतर घुसते हुए हैट उतारकर सोफा पर फेंकते हुए कहा और फिर सिगरेट सुलगाकर मुझसे कहा : 'कुछ नई विचारधारा सुना दी क्या अपनी भाभी को ? मैं तुमसे कह चुका हूं कि अपनी सनक को अपने पास रखो। भाई ! तुम क्यों भूल जाते हो कि संस्कार नाम की भी एक चीज होती है। जिस संसार में सिर्फ यौन आधार पर भाषा, वस्त्र, सब अलग-अलग पहने जाते हैं,

वहां तुम चाहते हो कि तुम्हारी ऊटपटांग बातें स्वीकार कर ली जाएं। ऐसा कैसे हो सकता है ?'

मैंने कहा : 'भाई, देखो ! मैं किसीसे कुछ नहीं कहता.......।'

आगे बहुत देर तक जिरह हुई थी। वह सब नीला ध्यान से सुनती रही थी। जहां तक मुझे याद है मैंने कुछ यह बातें कही थीं: हमारा परिवार पितृसत्ता के आधार पर बना है। इसमें स्त्री मां बनती है, इसीके कारण स्त्री को दबाया गया है। वह घर छोड़कर पराये घर को अपना कहने को मजबूर होती है। एक नये आदमी से जो उसका सैक्स का सम्बन्ध होता है, उसीको लेकर धर्म और पातिव्रत आदि का नाम दिया जाता है। स्त्री जब किसीकी संपत्ति बन जाती है, तब ही उसे समाज में आदर दिया जाता है। वह दूसरों की संपत्ति को अपना मानती है। क्या मनुष्य-जीवन में सैक्स का इतना बड़ा स्थान है कि पति-पत्नी के रूप में घर बसाकर रहना जीवन की सबसे बड़ी सार्थकता समझा जाता है ! क्या कारण है कि पुरुष अपने माता-पिता से चिपका रहता है और स्त्री को अपने माता-पिता को छोड़ना पड़ता है ! यदि ममता एक स्थायी भाव है तो मां-बाप समाज के नियम की मजबूरी में अपनी बेटी को कैसे छोड़ देते हैं ? और वह लड़की दूसरे घर में पहुंचकर अपने लिए सबसे ज्यादा अधिकार चाहती है। अगर यह सिद्धान्त मान लिया जाए कि स्त्री आने पर लड़का अपने मां-बाप को छोड़कर अलग हो जाए तो पशुओं में और मनुष्यों में क्या भेद है ? यदि स्त्री आने पर भी पुत्र माता-पिता के साथ रहे, तो नई बहू के अधिकार अपनी सास के सामने कुछ भी नहीं हैं। फिर बहू और सास का झगड़ा चलता है। तब इन दो स्त्रियों के

अपने-अपने पतियों की सामर्थ्य और धन कमाने की शक्ति पर सब कुछ निर्भर होता है। इस समाज में जब तक रक्त-संबंध की इकाई न हो, तब तक परिवार के दूसरे लोग आश्रित बनकर रहते हैं, क्योंकि उनका कानूनन कोई हक नहीं होता। स्त्री केवल अपनी संतान को चाहती है। मानव-समाज में संतान सुखी तब होती है, जब अपनी मां जीवित रहती है। इन सब बातों को देखते हुए यह पितृसत्ता का समाज बड़ा कलुषित है, क्योंकि इसमें आपसी संबंध मानवीय नहीं, बल्कि सैक्स और धन पर आश्रित हैं। यह घृणा की बुनियाद है।

नीला सुनती रही थी। सुशील नहाने चला गया था। मिसेज सुशील चाय बनवा रही थीं, नौकर से। वे कहती भी थीं कि नौकर कोई काम ठीक नहीं करते, इसीलिए वे स्वयं देखभाल करती थीं, क्योंकि पति की सेवा करना उनका फैमिली आइडियल (पारिवारिक आदर्श) था।

नीला ने कहा था: बात तो ठीक ही सी लगती है। लेकिन शादी न हो तो क्या हो? संतान कैसे हो? घर कैसे बने? स्त्री घर छोड़ती है, लेकिन अब यह बात उसके खून में आ गई है। यदि स्त्री विवाह न करे, तो बच्चों की जिम्मेदारी किसपर हो? यदि पातिव्रत न रहे, तो क्या समाज में व्यभिचार नहीं बढ़ जाएगा?

मैंने कहा: 'शादी पुरुष और स्त्री का केवल सैक्स-संबंध नहीं है। वह तो संतान को जन्म देने का एक न्यायपूर्ण कार्य है। उसे वासना-मात्र नहीं समझना चाहिए। असंयम ही शादी का वर्तमान रूप घर बसाना है, जिसमें स्त्री का सम्मान नहीं है। वह सिर्फ संतान को जन्म देने वाली मशीन है। शादी की जगह संतान को जन्म देने के कण्ट्रेक्ट

होने चाहिएं, यानी संतान के लिए ही स्त्री पुरुष का सैक्स संबंध होना चाहिए, अन्यथा नहीं। संतान को जन्म देना स्त्री का काम है। वह स्वयं इस विषय में तय करे कि उसे कितनी संतान चाहिए। जब तक उसे कोई सामाजिक कार्य नहीं है, उसके पास सिवाय इसके और कोई काम नहीं है। लेकिन यदि उसपर भी सामाजिक दायित्व होंगे तो वह इसमें भी सोच-समझकर कदम उठाएगी। संतान आपसी समझौते से हो। घर की जरूरत नहीं। बच्चा अस्पतालों, होस्टलों में पाला जाए। उस तरह से जन्म से ही बच्चे पर न धर्म लदेगा, न कोई संस्कार लदेंगे। बच्चा बड़ा होकर स्वयं अपना धर्म चुने। उसे समान शिक्षा मिले। हर बच्चा समाज का बच्चा है, क्योंकि हर बच्चा परमात्मा का बच्चा है। उसे अपने माता-पिता के अभावों के कारण फल क्यों भोगना पड़े। स्त्री यदि घर छोड़ती है तो यह माना जा सकता है कि हमारे संबंधों की मनोवैज्ञानिकता सामाजिक नियमों के आधार पर ही बनती है। मातृसत्ता में स्त्रियां घर नहीं छोड़ती थीं, बल्कि कबीले में पुरुष आ जाया करता था। उस समय यदि स्त्री से कहा जाता कि भविष्य में स्त्री को अपना कबीला या घर छोड़कर जाना पड़ेगा तो वह कभी इसपर विश्वास भी न करती। लेकिन समाज के बदले नियमों के कारण यह विश्वास ही नहीं, बल्कि उसका अपना दर्शन बन गया है। अतः ममता के संबंध नियमों पर निर्भर होते हैं। पातिव्रत स्त्री पर लादना व्यर्थ है। वह स्वयं ही अपना नफा-नुकसान सोचे। जिस समाज में हरएक स्त्री-पुरुष को बच्चों के पालन के लिए टैक्स देना होगा, वहां व्यभिचार और उच्छृंखलता कम ही होंगे; क्योंकि पानी वहां सड़ता है जहां उसे बहने का मौका नहीं

मिलता। जब उस टैक्स का उत्तरदायित्व सबपर होगा और धन-संचय की आवश्यकता ही नहीं होगी, तो मनुष्य और मनुष्य में व्यापक प्रेम बढ़ेगा और मेरे-तेरे की क्षुद्रता दूर होगी।'

नीला सुनती रही थी। उसने कहा : 'मैं समझ नहीं सकी हूं कि वह सब क्या होगा। पर बात बिलकुल ही बेकार तो नहीं है। यह तो सच है कि स्वतंत्रता तभी आएगी, जब स्त्री और पुरुष पर बराबर कर्तव्यों का बोझ होगा। क्या यह आश्चर्य नहीं है कि सबसे अधिक विकसित मनुष्य योगी कहा जाता है, और मानवता के उस विकास-क्षेत्र में सबसे पहले स्त्री को ही त्याज्य माना जाता है? इसका मतलब है कि मनुष्य के अगले विकास में स्त्री यदि बाधा है तो वह विकास में बाधा ही नहीं, वह सचमुच बुरी है और इसलिए वह अधर्म भी है। योग का विकास स्त्री के लिए क्यों नहीं है? असंयम से स्त्री ने अपने को पुरुष का खिलौना बनाया है और वह इसलिए कि रोटी की मजबूरी में उसे बिकना पड़ता है। यह सारा समाज स्वार्थ पर निर्भर है। इसमें पहले लड़के की आमदनी दरयाफ्त की जाती है, तब वहू आकर उससे प्रेम करती है। सच्चा प्रेम जाति और परिस्थिति के स्वार्थों में बंधकर कैसे रह सकता है?'

वह चुप हो गई और उसने जैसे थोड़ी देर कुछ सोचा, फिर कहा : 'हमारे समाज में स्त्री और पुरुष दोनों का भविष्य कितना अनिश्चित होता है। सच्चा प्रेम हम खोजते हैं, लेकिन एक भी व्यक्ति का स्वभाव बहुत बड़े परिवार को नष्ट कर सकता है। मनुष्य में तीन गुण होते हैं, सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण! बहुत कुछ उसीपर निर्भर होता है। आपने जो कुछ कहा है उस व्यवस्था में व्यक्ति के इन उतार-

चढ़ावों का सबसे कम प्रभाव पड़ता है । आशा करना वास्तविकता में एक दु:ख की जड़ है । मां-बाप अपने पुत्र से आशा करते हैं । पुत्र की पत्नी आती है, वह अपनी आशाएं लाती हैं । आशाएं उससे कुछ दूसरी की जाती हैं । सब जगह प्रयत्न अपनी-अपनी आशा को पूरा कराने का होता है । उसमें कशमकश होती है । मैं तो कुछ भी नहीं समझ पाती कि यह कैसी दुनिया है ? आप ठीक कहते हैं। पहले चार आश्रम थे---ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास । बूढ़े लोग पहले भी पुराने पड़ जाते थे तो चिंतन करने निकल जाते थे । फिर संन्यास में जीवन के राग-द्वेषों से परे हो जाते थे । फिर वह हिसाब-किताब टूट गया क्योंकि तरह-तरह की जातियों में मिलन हुआ और वे पुराने नियम टिक नहीं सके । पहले धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चार पुरुषार्थ थे । आज के युग में अर्थ और काम ही रह गए हैं । धर्म और मोक्ष में जो त्याग की भावना थी, वह अवशिष्ट ही नहीं है । सन्तानोत्पादन आज बोझ भी है और पेट की मजबूरी भी । पर आपकी बात व्यावहारिक भी हो सकती है, यह समझ में नहीं बैठता ।'

मैंने कहा : 'आज नहीं, कुछ हज़ारों सालों में मनुष्य में यह परिवर्तन आएगा ।'

'आप इस विषय पर खूब गंभीरता से क्यों नहीं लिखते ?'

'मैं सोच तो रहा हूं ।'

सुशील लौट आया था । मिसेज़ सुशील आ गई थीं और टेबिल-क्लॉथ का मुड़ा कोना सीधा करते हुए नौकर से चाय रखवाती हुई कह रही थीं : 'कैसा बिछाते हो !'

नौकर चाय रखकर चला गया ।

मिलता। जब उस टैक्स का उत्तरदायित्व सबपर होगा और धन-संचय की आवश्यकता ही नहीं होगी, तो मनुष्य और मनुष्य में व्यापक प्रेम बढ़ेगा और मेरे-तेरे की क्षुद्रता दूर होगी।'

नीला सुनती रही थी। उसने कहा: 'मैं समझ नहीं सकी हूं कि वह सब क्या होगा। पर बात बिलकुल ही बेकार तो नहीं है। यह तो सच है कि स्वतंत्रता तभी आएगी, जब स्त्री और पुरुष पर बराबर कर्तव्यों का बोझ होगा। क्या यह आश्चर्य नहीं है कि सबसे अधिक विकसित मनुष्य योगी कहा जाता है, और मानवता के उस विकास-क्षेत्र में सबसे पहले स्त्री को ही त्याज्य माना जाता है? इसका मतलब है कि मनुष्य के अगले विकास में स्त्री यदि बाधा है तो वह विकास में बाधा ही नहीं, वह सचमुच बुरी है और इसलिए वह अधर्म भी है। योग का विकास स्त्री के लिए क्यों नहीं है? असंयम से स्त्री ने अपने को पुरुष का खिलौना बनाया है और वह इसलिए कि रोटी की मजबूरी में उसे बिकना पड़ता है। यह सारा समाज स्वार्थ पर निर्भर है। इसमें पहले लड़के की आमदनी दरयाफ्त की जाती है, तब वहू आकर उससे प्रेम करती है। सच्चा प्रेम जाति और परिस्थिति के स्वार्थों में बंधकर कैसे रह सकता है?'

वह चुप हो गई और उसने जैसे थोड़ी देर कुछ सोचा, फिर कहा: 'हमारे समाज में स्त्री और पुरुष दोनों का भविष्य कितना अनिश्चित होता है। सच्चा प्रेम हम खोजते हैं, लेकिन एक भी व्यक्ति का स्वभाव बहुत बड़े परिवार को नष्ट कर सकता है। मनुष्य में तीन गुण होते हैं, सतोगुण, रजोगुण और तमोगुण! बहुत कुछ उसीपर निर्भर होता है। आपने जो कुछ कहा है उस व्यवस्था में व्यक्ति के इन उतार-

चढ़ावों का सबसे कम प्रभाव पड़ता है । आशा करना वास्तविकता में एक दुःख की जड़ है । मां-बाप अपने पुत्र से आशा करते हैं । पुत्र की पत्नी आती है, वह अपनी आशाएं लाती हैं । आशाएं उससे कुछ दूसरी की जाती हैं । सब जगह प्रयत्न अपनी-अपनी आशा को पूरा कराने का होता है । उसमें कशमकश होती है । मैं तो कुछ भी नहीं समझ पाती कि यह कैसी दुनिया है ? आप ठीक कहते हैं। पहले चार आश्रम थे—ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वानप्रस्थ और संन्यास । बूढ़े लोग पहले भी पुराने पड़ जाते थे तो चिंतन करने निकल जाते थे । फिर संन्यास में जीवन के राग-द्वेषों से परे हो जाते थे । फिर वह हिसाब-किताब टूट गया क्योंकि तरह-तरह की जातियों में मिलन हुआ और वे पुराने नियम टिक नहीं सके । पहले धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चार पुरुषार्थ थे । आज के युग में अर्थ और काम ही रह गए हैं । धर्म और मोक्ष में जो त्याग की भावना थी, वह अवशिष्ट ही नहीं है । सन्तानोत्पादन आज बोझ भी है और पेट की मजबूरी भी । पर आपकी बात व्यावहारिक भी हो सकती है, यह समझ में नहीं बैठता ।'

मैंने कहा : 'आज नहीं, कुछ हज़ारों सालों में मनुष्य में यह परिवर्तन आएगा ।'

'आप इस विषय पर खूब गंभीरता से क्यों नहीं लिखते ?'

'मैं सोच तो रहा हूं ।'

सुशील लौट आया था । मिसेज़ सुशील आ गई थीं और टेबिल-क्लॉथ का मुड़ा कोना सीधा करते हुए नौकर से चाय रखवाती हुई कह रही थीं : 'कैसा बिछाते हो !'

नौकर चाय रखकर चला गया ।

सुशील ने कहा : 'मेम साब ! अब पुराने ज़माने के नौकर नहीं हैं।'

मिसेज़ सुशील ने कहा : 'पुराने फ्यूडल (सामंतीय) सिस्टम (निज़ाम) में लॉयल्टी (वफादारी) नाम की एक अच्छी चीज़ थी ! नौकर मालिक के लिए जान तक देते थे।'

सुशील ने कहा : 'नमक अदा करना भी एक बात है। वह तो चला ही गया।'

नीला ने धीरे से कहा था : 'वह ज़माना चला गया भाभी ! तुम चाहती हो कि नौकरों के लिए वह बना रहे, लेकिन पहले का वह ज़माना स्त्रियों के लिए भी कितना बड़ा घूंघट था ! तुम उसमें लौट सकती हो ?'

मिसेज़ सुशील चिढ़ गईं, बोलीं : 'वाह ! तो क्या औरतें नौकर हैं ?'

'नौकर नहीं कहती मैं, पर समाज की एक मर्यादा होती है। उसमें सबके अलग-अलग हक होते हैं। ऐसा कैसे हो सकता है कि एक वर्ग अपने को बदल ले और दूसरा वहीं पड़ा रहे। पुरानी स्त्री पति को कोढ़ रोग में भी अपना परमेश्वर समझती थी। आज वह बात कहां ? अब तो पुरुष मध्यवर्ग में नाममात्र का स्वामी रह गया है। अब तो वह स्त्री को सिनेमा में भी ले जाता है, तब कौन-से नाटक में ले जाता था ? अब तो पुरुष का पौरुष स्त्रियां वहां काम में लाती हैं जहां टिकट लाना पड़ता है, सीट ढूंढ़नी पड़ती है। सचमुच भाभी ! सब बड़ी उथल-पुथल में है। यह सब बदलेगा। यह जरूर है कि कुछ पीढ़ियां इस परिवर्तन में ही मर-खप जाएंगी।'

यह थी नीला। मैं उसे देखता था तो मुझे कुछ आश्चर्य अवश्य होता था। वह एक भी गहना पसंद नहीं करती थी।

मैंने पूछा तो बोली : 'सोना कोई सुन्दरता की वस्तु नहीं। वह एक मोल-तोल करने के महंगी वस्तु है। औरतें गहने क्यों पहनती हैं? पहले पुरुष भी पहनते थे। पुरुषों ने क्यों छोड़ दिए? स्त्री अभी तक क्योंकर अपने को सजाना चाहती है? वह सोना अगर हिंदुस्तान की स्त्रियां देह पर लादी-लादी न फिरें, तो शायद भारत में बहुत सोना निकल आए। लाखों आदमियों की किस्मत बदल जाए। लेकिन हर औरत में यह कमजोरी है और अगर आप गहनों का विरोध करेंगे तो वह आपसे नफरत करेगी, दुश्मनी बांधेगी, रोयेगी, धोएगी, लेकिन उसकी अक्ल में नहीं बैठेगा। यूरोप की स्त्रियां गहने नहीं के बराबर पहनती हैं। गहना पहनना बर्बर युग की ही निशानी के समान है।'

मैं उसे देखता रह गया था।

आज उसी नीला के पत्र इकट्ठे पड़े हैं। और सचमुच कितना विचित्र है!

नीला का विवाह हो गया। मैंने भी उसके पति डॉक्टर को देखा था। नीला रेशमी साड़ी पहने उढ़की-दबकी-सी उसके पास खड़ी थी। अब वे एक नई जिंदगी शुरू करने वाले थे, यानी कि वे अपना कामुक

जीवन प्रारंभ करने वाले थे। वह लजाई भी थी, और उसमें एक निरासक्ति भी थी, यों परिस्थिति का उसे गर्व भी था, क्योंकि अब उसकी नौका एक किनारे से लग गई थी। अब उसे सहारा मिल गया था।

मिसेज़ सुशील ने मुझसे कहा था : 'बड़ी दिमाग वाली लड़की थी वह !'

मैंने पूछा : 'क्यों ?'

मिसेज़ सुशील ने कहा : 'बोली—मैं अपने पिता के घर से जो ले जा रही हूं वह स्त्रीधन क्यों है ? उसमें मेरा क्या है ? पिता ने दे दिया है। अब जीवन में मैं पति के ऊपर निर्भर हूं। और जब उनका सब-कुछ मेरा है, तो ये थोड़ा-बहुत मेरा क्या है ? पुरुष के लिए जैसे हिंदुओं में कोई काम नहीं। तभी तो विवाह में, काशी-यात्रा में, कन्या का पिता कन्या का दान करके पुरुष को रोकता है कि तुम अभी से संसार का त्याग मत करो। लो, मैं तुम्हें लड़की देता हूं, घर जमाने का सामान वर्तन-फांडे, रुपये-पैसे देता हूं, क्योंकि तुम तो थे ब्रह्मचारी। सिवाय विद्या के तुम्हारे पास है ही क्या ? अब मेरी कन्या का पालन तुम करो, यह तुम्हारी सेवा करेगी।' वे रुकीं और बोलीं : 'सुना तुमने ? यह कहने की बात है ?'

डॉक्टर एक अपरिचित स्त्री से मिलकर मुग्ध नहीं हुआ। नीला ने सास-ससुर को देखा और अपने पास पाया, लेकिन डॉक्टर को नहीं।

यों डॉक्टर बहुत शिष्ट था। वह विनम्र था। और कुछ दिन ही हुए कि डॉक्टर का तबादला हुआ, या कहें पहली नियुक्ति हुई।

उस किरण का क्या जो हर रोज़ नई तो है, मगर फिर भी उससे भीतर उजाला नहीं होता। श्रीमती सुन्दरम ने देखा कि डॉक्टर की पत्नी नीला चांदनी रात में बरामदे में एक काली छाया बनकर बैठी है तो अपने आप पास आईं और बोलीं : 'आप इधर बैठी हैं ?'

नीला मुस्करा दी।

कहा : 'हां। आप भी शायद चांदनी देखने बाहर निकल आई हैं ? चांदनी कितनी मीठी है !'

श्रीमती सुन्दरम व्यवहारकुशल स्त्री थीं। उनकी राय में चांदनी वह चाय थी जिसमें पति रूपी शक्कर को घोलकर पीने पर ही स्वाद आ सकता था। बोलीं : 'आज डॉक्टर साहब कहीं गए हैं ?'

नीला के हाथ पर से जैसे छिपकली रेंग गई। परन्तु उसने कुछ भी प्रकट नहीं होने दिया। कहा : 'डॉक्टर और तार बांटने वाले की यही तो मुसीबत है बहनजी ! आधी रात में जगा लिया जाता है।'

श्रीमती सुन्दरम हंसीं। उनका जीवन इस तुलना में कितना नियमित था। पति श्री सुन्दरम सुबह दस बजे गए, शाम को पांच बजे घर वापिस। श्रीमती सुन्दरम भी खुश और श्री सुन्दरम भी चे खुश ! वे थीं लगभग उन्तालीस-चालीस वर्ष की। नीला बिल्कुल नई उम्र की। ज़्यादा से ज़्यादा उन्नीस-बीस की होगी। घर में नौकर भी नहीं। आजकल नौकर मिलते भी नहीं आसानी से। केवल सहानुभूति से कहा : 'कोई ज़रूरत हो तो संकोच मत करना। हमें बताना। कल मेरी बेटी राजम आ रही है ससुराल से। चिट्ठी आई थी उसकी। तुम्हारी ही सी उमर

है उसकी। मेरी पहली ही लड़की है वह। उसके बाद आठ संतानें दीं भगवान ने, लेकिन कोई बाकी नहीं छोड़ी यमराज ने। तुम्हें पहली बार देखा तभी मुझे राजम याद आ गई। उसका पति दिल्ली में सैक्रेटेरियट में ए ग्रेड ऑफिसर है। अपने खाती-पीती है। यह ज़रूर है कि दामाद हर बार मुंह फाड़ते ही रहते हैं, पर हमारे भी तो एक ही बेटी है। हम भी सोच लेते हैं कि आखिर हमारे अब है भी कौन? ....वह आएगी तो तुमसे मिलाऊंगी।'

और जब राजम आई तो नीला को यह आश्चर्य हुआ कि आखिर उसे देखकर नीला की याद कैसे आ सकती थी। रंग में नीला उठती भोर थी तो राजम डूबती सांझ की आखिरी छाया। सूरत में भी उतना ही फर्क था, जितना दक्षिणी अमेरिका और अफ्रीका के नक्शों में होता है। समानता थी यह कि वह भी स्त्री थी, और नीला भी स्त्री थी, ठीक जैसे अफ्रीका और अमरीका भी अन्ततोगत्वा दो देश ही हैं।

लेकिन राजम बड़ी बातूनी थी। उसने नीला को कच्चे धागे की तरह बंट लिया और अपने हाथ में बांध लिया। ऐसा लगने लगा कि नीला और राजम बहुत पुरानी मित्र हैं।

इस सारे दृश्य में नीला का पति कभी उभरकर ऊपर नहीं आया। परंतु वह कभी भी बुरा बनकर नहीं रहा। वह सदैव गंभीर रहता, ड्यूटी पर रहता। और उसमें एक विचित्रता थी कि उसमें बड़ा संयम था। जैसे नीला उसकी पत्नी ही नहीं थी। नीला बौद्धिक तथा आत्मसम्मानवाली स्त्री थी। वह शारीरिक सम्बन्धों को इतना अधिक महत्त्व भी नहीं देती थी। लेकिन बात राजम ने काटी। कहा :

कल्पना

'अरी नील् !'

वह ल नहीं कहती थी, ल् बोलती थी।

'क्यों ?' नीला ने कहा।

'कल तेरे घर कौन आया था ?'

'वो मेरे उनके एक बहुत पुराने दोस्त आए थे।'

'उनके साथ कौन थी ?'

'उनकी नई-नई पत्नी है, अभी शादी हुई है।'

'क्या करते हैं वे ?'

'वकील हैं, शादी नहीं करते थे कि मैं बहुत व्यस्त रहता हूं। मेरी पत्नी करेगी भी क्या ? पर अभी कोई महीना भर हुआ, हमारे डाक्टर साहब ने ही इस निर्मला से शादी करा दी उनकी। निर्मला पढ़ाती है यहां गर्ल्स स्कूल में। वह बी० ए० कर रही है। अब ऐप्रिल में परीक्षा देगी। तब तक तो यहीं है। फिर छुट्टियों में चली जाएगी। वकील साहब वहां हैं ही। फिर यह प्राइवेट एम० ए० करेगी और स्कूल में सर्विस भी करती रहेगी।'

राजम ने सब कुछ सुना और संदेह से सिर हिलाया। नीला को आशंका हुई। कहा : 'क्यों, क्या बात है ?'

'कुछ नहीं।'

'नहीं, तुम सोच क्या रही हो ?'

राजम ने आंखें उठाई, फिर नीला का मुख वह अपनी आंखों में ऐसे भरती रही जैसे चितेरा कूंची से रंग घोलकर प्याली भरता रहता है।

'बताओ न ?'

'मैं पूछती हूं कि वकील साहब वहां रहेंगे और ये यहीं रहेंगी !'

'हां ।'

'तो फिर इसने शादी की ही क्यों ?'

'क्यों ? वह सर्विस में है । बी० ए० का इम्तहान भी तो देना है । शायद साहित्यरत्न भी देगी ।'

'कायदे से तो अब उसे पुत्र-रत्न देना चाहिए ।' राजम ने गंभी-रता से कहा और सिर हिलाया ।

श्रीमती सुंदरम ने जब कॉफी पिलाई तब सारी घटना को सुना और कहा : 'नया जमाना है, इसमें जो न हो वही कम है । अब बात और है, तब और ही थी । हमारे समय में ही दुनिया बहुत बदल गई, तुम्हारे समय में और बदलेगी ।' फिर उन्होंने बड़ी दार्शनिकता से कहा : 'स्त्री को इतनी स्वतंत्रता नहीं देनी चाहिए । हमारी भाषा में कहावत है कि लड़के को उसका मास्टर और लड़की को उसकी सास ठीक करती है । वह भी कुछ सोच-समझकर ही कहा गया है ।'

राजम मुस्कराई । सफेद दांत चमक उठे, और उसकी नाक के दोनों हीरे भी चमके । और उसने धीरे-से नीला से कहा : 'इसीलिए अम्मा ने मुझे ऐसी जगह देखकर दिया जहां सास नहीं थी । सचमुच मुझे तो सास के नाम से ही डर लगता है ।'

नीला ने कहा : 'तुम्हारे भाई तो है ही नहीं । मेरे तो है । मैं जब सोचती हूं कि उसकी बहू आएगी, तो क्या मेरी इतनी अच्छी मां को वह बुरा कहेगी ?'

राजम ने कहा : 'उसमें क्या है ? बहू को तो ऐसा रहना चाहिए कि घर न बिगाड़े किसीका ।'

यह वक्तव्य सैद्धान्तिक था। नीला ने उसकी पहली बात में इसकी पुष्टि नहीं देखी थी। मानो यह कल्पना में रहनेवाला आदर्श था, जिसकी व्यावहारिकता पर अब किसीको भी विश्वास नहीं रहा था।

सांझ हो गई है।

डॉक्टर आते हैं। साथ में निर्मला है। नीला बरामदे में अकेली बैठी है। वह उठ खड़ी होती है।

निर्मला बैठती है। कहती है—'नीलाजी! आज सोचा, मैं आपसे मिल आऊं।'

नीला कृतज्ञ है। कहती है: 'आपके बारे में ये कहते तो थे; मेरी बड़ी इच्छा थी कि आपसे मिलूं?'

डॉक्टर की ओर देखकर निर्मला हंसती है। जाने क्यों नीला को लगता है कि इसमें कहीं कुछ विकृत हास्य-सा भी है। नहीं, शायद यह उसका भ्रममात्र है। ऐसा क्यों होने लगा?

'तुम्हारी श्रीमतीजी बड़ी भोली हैं,' निर्मला डॉक्टर से हंसकर कहती है।

'क्यों?' डॉक्टर कहते हैं।

'देखो न? मुझे देखना चाहती थीं। मुझमें ऐसा क्या था?' वह फिर हंसती है। उस हास्य में नीला को प्रतिहिंसा-सी सुनाई देती है। लेकिन वह ऐसा स्वयं ही अनुभव नहीं करना चाहती। आखिर नीला को किसी प्रकार का पूर्वाग्रह उसके प्रति होगा भी क्यों? वह देख रही

है। सामने के पेड़ पर कबूतर-कबूतरी का जोड़ा बैठा है। कबूतर उड़ गया है। कबूतरी अकेली रह गई है। भला वह कहां चला गया है ?

डॉक्टर कहता है : 'सुनो नीला ! मुझे जाना होगा अभी।'

निर्मला कहती है : 'किधर जाओगे ?'

नीला नहीं पूछ पाती।

डॉक्टर कहता है : 'मुझे डॉक्टर सक्सैना ने बुलाया है।'

'तो मुझे भी पहुंचा दो न उधर। उनकी मिसेज़ से मिलना है।'

'अच्छा, लेकिन मैं ज़्यादा ठहरूंगा नहीं। आध घंटा बैठूंगा वहां।'

वे चले जाते हैं। नीला फिर से अकेली रह जाती है। न चाय पी, न कुछ खाया। निर्मला कौन है ? क्यों आती है ?

नीला उठ जाती है।

बत्तियां की झिलमिलाहट अंधेरे पर तैरने लगी है। द्वार पर खट-खट होती है।

'कौन ?'

'मैं हूं राजम !'

'ओह ! ठहरो, दरवाजा खोलती हूं।'

राजम के मुख पर एक जिज्ञासा है।

'क्यों ? अकेली हो ?' वह पूछती है।

'हां, बैठो !'

'वे कहां चले गए हैं !'

'डॉक्टर सक्सैना के यहां गए हैं ।'

'तुम्हें ठीक मालूम है ?'

'क्यों ? हां, वे कह गए हैं । बताओ !'

'कुछ नहीं ।' राजम कहती है ।

'बैठो न ? मैं तुम्हारे लिए कॉफी बनाती हूं । देखो मैंने स्टेन्स मंगाई है । अब तुम कहने लगोगी कि कॉफी के तो बीज पीसने से ही अच्छी कॉफी बनती है···'

नीला हंसती है । हंसती है राजम भी, पर धीरे से, जैसे मुख-मुद्रा दयनीय हो जाती है उसकी ।

'कॉफी रहने दो ।' राजम कहती है—'मैंने आज बहुत पी ली है ।'

'मां कहां है ?'

'काम करती हैं कुछ ?'

'पिताजी बाहर से नहीं आए ?'

'मैं और पिताजी साथ-साथ ही तो सिनेमा से आए हैं । हम आ रहे थे ; तुम्हारे डॉक्टर साहब और निर्मला भीतर जा रहे थे ।'

नीला का हाथ कांप उठता है । पर वह संभल जाती है । अब वह राजम से आंख मिलाना नहीं चाहती । बाहर देखती है । खिड़की के पीछे पतले-से चांद ने सलामी दी है । हवा चल रही है ।

'अभी बना लाती हूं ।' नीला कहती है ।

लेकिन विक्षोभ से भी अधिक उसे शर्म आ रही है । राजम समझ गई है । वह कहती है—'एक बात पूछूं नीला ?'

बिना उधर देखे नीला कहती है—'पूछो ।'

'सच बताओगी ?'

'बताऊंगी·····' फिर रुककर थोड़ा—'अगर जानती होऊंगी···'

'सच कहो। तुम नहीं जानती थीं कि वे लोग सिनेमा गए हैं ? तुम्हें छोड़कर ?'

नीला के आत्मसम्मान को चोट पहुंचती है। वह कहती है : 'मेरे सिर में दर्द था, तभी मैंने उन्हें भेज दिया।'

'फिर डाक्टर सक्सैना की बात मुझसे कहने की क्या जरूरत थी ?'

चांटा-सा लगता है नीला के मुंह पर ! लेकिन वह कहती है, बिलकुल बनावटी हंसी हंसकर : 'पहले वहीं गए होंगे। फिर ही तो सिनेमा जाने की बात थी।'

राजम कहती है : 'तुम नीला !' फिर चुप रह जाती है।

'क्यों, कहो न ?'

'क्या कहूं ?'

'मैं नहीं जानती !' वह मुंह फिरा लेती है।

वह स्तब्ध है।

राजम बढ़कर उसके कंधे पर हाथ रखकर कहती है : 'पुरुष ! पुरुष !!'

'कैसा पुरुष ? मैं नहीं जानती !' नीला बिना उसे देखे कहती है।

राजम उत्तर देती है : 'अगर स्त्री को भूख न लगे, तो मैं तो कहूंगी उसे कभी पुरुष के साथ संपर्क ही नहीं जोड़ना चाहिए। बड़ा स्वार्थी होता है। नारी उसके लिए केवल विलास का साधन है।'

नीला कहती है : 'ठीक कहती हो राजम ! लेकिन दोषी कौन है ? क्या स्त्री ही अपने को सजा-बजाकर आकर्षक बनाने की चेष्टा

नहीं करती ? एक बात कहूं ?'

'कहो !' चौंकती है राजम ।

'स्त्री ही अप्सरा है न ? पुरुष तो नहीं ?'

'नहीं ।'

'फिर स्त्री को पुरुष क्यों चाहिए ?'

'उसकी रक्षा अन्यथा कौन करेगा ?'

'तो वह अनाथ है ?'

'अबला है ।'

'तो फिर वह सबल का मुकाबला करे ही क्यों ?'

'तो क्या उसके जूते के नीचे कुचली पड़ी रहे ।'

'क्या वह उसकी उपेक्षा नहीं कर सकती ?'

'नहीं । अपने माता-पिता को देखो । मेरे माता-पिता को देखो । वे तो एक दूसरे को घृणा नहीं करते । फिर यौवन में ही यह विद्रोह क्यों होता है ? मां तो सदा ही पिताजी की बात मान लेती है ।'

'लेकिन उनमें परस्पर विश्वास है ।' नीला के मुंह से निकल जाता है । आंखों में एक क्षण के लिए जैसे आग-सी जल उठती है । राजम देख रही है । उसके नयनों में कौतूहल है ।

वह कहती है : 'विश्वास !'

फिर एकाएक कह उठती है : 'यदि स्त्री पुरुष से विश्वासघात करे तो ?'

'पति के द्वारा उसे दंड मिलता है ।'

'और यदि पुरुष.....'

नीला हठात् उसकी आंखों में झांकती है और कहती है : 'कुछ

नहीं होता।'

'मैं पूछती हूं—क्यों ?'

'स्वामी स्वामी ही है।'

'लेकिन क्या उसपर कोई अंकुश नहीं ?'

'है !'

'क्या ?'

'स्त्री की स्वतंत्रता।'

'बहुत-सी कमाती हैं...'

'फिर भी उनका मन गुलाम ही है।'

'ये निर्मला कौन है ?'

'मैं नहीं जानती।'

'डाक्टर साहब से इसकी दोस्ती कब से है।'

नीला को जैसे बिजली का तार छू जाता है। मुड़कर कहती है : 'कैसे ? क्या ? एक शहर के रहनेवाले हैं। एक दूसरे को जानते हैं। राजम ! मेरे पति ऐसे नहीं हो सकते। वे नहीं होंगे। शायद तुमने किसी और को तो देख नहीं लिया ?'

राजम मुस्कराती है। वह कहती है : 'क्यों ? क्यों होंगे कोई और। अभी तो तुम कह रही थीं कि वे लोग पहले डाक्टर सक्सैना के यहां जाएंगे, फिर जाएंगे सिनेमा....'

नीला का माथा दीवाल से टिक जाता है। राजम उसे पकड़ लेती है।

'लेट जाओ ! नीला ! तुम्हें शायद चक्कर आ गया है। ठहरो, मैं तुम्हें लिटाकर पंखा खोले देती हूं।'

'मुझे अकेला छोड़ दो राजम ! मुझे नींद आ रही है।'

'नहीं, मैं तुम्हें इकली नहीं रहने दूंगी। रात सूनी है।'

आवाज़ आती है—'राजम ! आ रही हो ?'

'आई अम्मा !' राजम पुकारती है, 'नीला को भी ले आती हूं।'

'चुप, चुप,' नीला कहती है : 'क्यों शोर करती हो ! मां पूछेंगी।'

'उन्हें बता दूंगी।'

'नहीं, वे जानेंगे तो ?'

'क्या जानेंगे ?'

'यही कि तुम सब जानते हो ?'

'तो क्या हुआ ?'

'यह तो ठीक नहीं होगा !'

'तो क्या वे ठीक कर रहे हैं ? पराई औरत को ले जाना। सिनेमा ? क्या यह उचित है ? इसमें क्या उन्हें लज्जा नहीं आती ? और वह चुड़ैल ! उसको तो काट-काटकर फेंक देना चाहिए। कुलटा ! शादी की है किसीसे, और उसे भी धोखा दे रही है और तुम्हारा भी घर बिगाड़ते उसे हिचक नहीं है।'

'श्रीमती सुंदरम द्वार पर हैं।'

'क्या बात है ?' वे पूछती हैं : 'ऐसी दोनों क्यों परेशान दीखती हो तुम ?'

राजम नीला की ओर देखती है। नीला के नेत्रों में याचना है जैसे मत कहना।

राजम बात बदलकर कहती है : 'कुछ नहीं अम्मा ! ये खाली

बैठी थीं।'

'खाना बन गया ?' श्रीमती सुंदरम ने पूछा है।

'हां', नीला ने उत्तर दिया है।

राजम कहती है : 'मैंने कहा कि जब तक डॉक्टर साहब नहीं आते, मेरे घर चल। वहीं कुछ बातें करेंगे।'

श्रीमती सुंदरम कहती हैं : 'यह बड़ी मुसीबत है। बड़ा घर हो तो बहू की काम करते-करते आफत। घर में केवल पति हो तो और सब तरह का आराम हो, लेकिन पुरुष का धंधा बाहर, घर में स्त्री बैठी मक्खी मारती रहे।' वे हंसीं। 'इसीसे कहा है कि जिस घर में बूढ़ा या बच्चा न हो, वहां चहल-पहल नहीं रहती। बूढ़े का क्या ? कुछ न कुछ चटर-पटर किया ही करता है। बच्चे की तो किलकारी से ही बड़ा समय व्यतीत होता है।' फिर हंसीं और कहा : 'लेकिन अभी दिन ही कितने हुए हैं ! सब घर भर जाएगा नीले ! चिन्ता किस बात की है ?'

न राजम हंसती है, न नीला। श्रीमती सुंदरम को अजीब-अजीब-सा लगता है।

पूछती हैं : 'क्यों रे ? क्या हुआ ?'

'कुछ नहीं,' नीला सहसा अपने को संयमित करती हुई कहती है : 'आप भी जाने कहां की ले बैठीं ! मैं चलती हूं।'

डॉक्टर के जूतों की आवाज आ रही है।

नीला कहती है : 'मैं चलती हूं !'

डॉक्टर ने बरामदे की लाइट जला दी है। नीला की चप्पल की फटफट होती है। वह सीढ़ियां चढ़ती है और डॉक्टर मुस्कराकर कहते हैं : 'चली गई थीं ?'

'आपको डॉक्टर सक्सैना के यहां बड़ी देर लग गई !'

'हम लोग पिक्चर चले गए थे !'

नीला अवाक् रह जाती है। यदि इस व्यक्ति के मन में पाप होता तो यह क्या इस तरह कह सकता था ? अवश्य ही इसके बारे में कुछ भी सोचना ठीक नहीं है। पर कुछ भी हो। गए तो उसे छोड़कर ही थे ?

'कौन-कौन थे ?'

'मैं और निर्मला।'

नीला मुड़कर देखती है : 'मुझे क्यों न ले लिया साथ। मैं भी देख लेती ?'

'ऐसे ही। ध्यान नहीं आया।'

नीला के मन पर घूंसा-सा लगता है !

वह बोलती नहीं।

भीतर जाकर डॉक्टर कपड़े खोलते हैं।

'खाना खा लीजिए।'

खाना खाते समय डॉक्टर पूछते हैं : 'एक बात जानना चाहता हूं। बताओगी ?'

जाने क्यों नीला का मन कांप उठता है।

'पूछूं ?'

'कहिए।'

'तुमसे मैंने कहा कि मुझे तुम्हारा ध्यान नहीं आया।'

नीला बोलती नहीं। बड़ी-बड़ी पलकें उठाती है।

डॉक्टर कहते हैं : 'तुम्हें यह सुनकर क्रोध नहीं आया ?'

'क्यों आता ?' नीला शांत स्वर में पूछती है।

'क्यों नहीं ?'

'जितना अधिकार मिलेगा, उतना ही तो लूंगी। जितना मेरे लिए नहीं है, उतने की मुझे आशा ही क्यों करनी चाहिए ? उसके न मिलने पर तो अधिक ही दुःख होगा न ?'

डॉक्टर को आश्चर्य होता है। वे कहते हैं : 'सारा संसार जिसे अपना कहता है, उसे वह अपनाना चाहता है न ?'

'मन तो नहीं बंध पाता।'

'तुम्हें भी ऐसा लगता है ?'

'लोगों को जैसा देखती हूं, वैसा ही तो समझ सकती हूं।'

डॉक्टर मन ही मन तिलमिला जाते हैं, किन्तु वैसे प्रकट नहीं करते।

'रोटी दूं ?' नीला पूछती है।

'दे दो। क्या समझती हो—मनुष्य की भूख का उसके जीवन में कितना बड़ा स्थान है ?'

'बहुत बड़ा। सबसे बड़ा। पति, पिता, पुत्र, भाई, बहिन, सबके नाते से बड़ी है भूख। भरे पेट बलिदान होना आसान है, भूखे मरते हुए मरना बहुत कठिन है।'

डॉक्टर के नेत्र उठते हैं, फिर गिर जाते हैं। वे फिर कहते हैं :

कल्पना

'तुम्हें पता है न कि मैं निर्मला के साथ गया था।'

'आपने अभी बताया न ?'

'और तुम्हें बुरा नहीं लगा कि मैं उसके साथ गया ?'

'क्यों लगेगा ?'

डॉक्टर लज्जित हैं।

पूछते हैं : 'कल तुम चलोगी ?'

नीला हंस देती है।

डॉक्टर के नेत्रों में झेंप समा जाती है।

हफ्ता बीत गया है। जैसे कोई छः टांग का बड़ा-सा कीड़ा एक-एक वार-रूपी पांव रखकर सरक गया हो। रात का सन्नाटा छा रहा है। नीला अपने बिस्तरे पर सो रही है। डॉक्टर अपनी चारपाई पर सो रहे हैं। हवा धीमी-धीमी चल रही है। अचानक एक हल्की-सी आहट होती है। नीला की आंख खुल जाती है। देखती है कि डॉक्टर अपनी चारपाई पर बैठे हैं।

वे धीरे से पुकारते हैं : 'नीला !'

वह नहीं बोलती।

फिर सन्नाटा छा जाता है। फिर कोई रात्रि-पक्षी बोलता है। फिर नीरवता छा जाती है। अगली बार रात्रि-पक्षी के बोलने के साथ ही हल्की आहट को रोकने की चेष्टा करते हुए डॉक्टर खड़े हो जाते हैं। नीला चुपचाप लेटी रहती है।

फिर डॉक्टर बाहर की ओर चलते हैं। द्वार खुलकर बंद हो जाता है। कांप उठता है नीला का हृदय। एकांत। सूनाघर! अंधकार! वह अकेली। कहां जा रहे हैं। क्या वह बुद्ध की तरह छोड़कर सदा के लिए कहीं जा रहे हैं? फिर क्या करेगी वह?

क्यों न वह पीछा करे····

घर पर कौन रहेगा···

लेकिन घर से नीला को क्या है····

नीला का घर भी तो उसका पति है···

जब पति जा रहा है तो घर ही चला जा रहा है···

यदि वे बुरा मान गये तो?

लेकिन वे इस तरह उसे अकेली छोड़कर जा भी कैसे सकते हैं···

अंधेरा कैसा घना है···

नीला के रोंगटे खड़े हो गए हैं···

वह धीरे से द्वार खोलकर झांकती है। उसे लगता है कि अंधेरे में दो व्यक्ति बरामदे के नीचे खड़े हैं। वह आगे बढ़ती है, दबे पांव।

वे दोनों व्यस्त हैं।

नीला चुपचाप खंभे की आड़ में खड़ी हो जाती है।

'इस वक्त!' डॉक्टर फुसफुसाते हैं।

'मैं क्या करूं?'

'क्यों?'

'मेरा दिल इसे नहीं सह सकता।'

'आखिर क्या?'

'कि तुम उस औरत के साथ···'

'क्या बात करती हो ? मुझपर इतना भी भरोसा नहीं करती तुम ?'

'भरोसा तो इतना करती हूं ।'

वह छाया अब डॉक्टर के कंधे पर सिर धर देती है। नीला का खून जम गया है ।

'निर्मल !' फुसफुसाहट सुनाई देती है ।

'तुम मेरे हो !'

'मैं तुम्हारा ही हूं।'

'ये विवाह हमें अलग नहीं कर सकते ।'

'मैं तुम्हारे बिना जी नहीं सकता ।'

'तुम्हीं मेरे जीवन के एकमात्र आधार हो ।'

'तुम्हें इस समय अंधेरे में अकेली आते डर नहीं लगा ।'

'मुझे किसीका डर नहीं लगता । जब मैं तुम्हारे बारे में सोचती हूं तो मुझे उड़ने की इच्छा होती है । मुझे एक ही डर लगता है ।'

'वह क्या ?'

'कहीं तुम अपनी इस औरत के पीछे मुझे भूल न जाओ ।'

'ऐसा हो सकता है कभी निर्मल ?'

'तो मैं मरने से भी नहीं डरती । सच कहती हूं जिस दिन तुम मुझे दगा दोगे, मैं उस दिन जहर खा लूंगी । तुम तो पुरुष हो । मैं स्त्री हूं । तुम जो कर रहे हो, वह सब यह समाज क्षमा कर सकता है, लेकिन मैं अपने पति से धोखा कर रही हूं और मेरे लिए कोई भी सहारा नहीं है ।'

'क्या कहती हो ! निर्मल ! मैं तुम्हारे साथ हूं । मैं किसीकी

परवाह नहीं करता।'

नीला आगे बढ़कर बत्ती का स्विच दबा देती है। उजाले में दोनों एक दूसरे से लगे खड़े दिख जाते हैं। वे अलग हो जाते हैं।

नीला कहती है : 'आप लोग भीतर क्यों नहीं आ जाते। बाहर सर्दी है। ओस नुकसान कर सकती है।'

वे दोनों एक दूसरे की ओर देखते हैं। फिर अत्यन्त दृढ़ता से निर्मला आगे बढ़ती है और कमरे में चली जाती है। फिर डॉक्टर भी। नीला बत्ती बुझाकर कमरे के द्वार पर आ जाती है।

निर्मला कहती है : 'भीतर आ जाओ।'

वह भीतर जाती है।

'बैठो।'

वह बैठती है।

'तुम्हें गुस्सा नहीं।'

'किसका ?'

'ये तुम्हारे पति हैं।'

'हैं।'

'मैं पराई स्त्री हूं।'

'मेरे लिए। उनके लिए नहीं।'

'यानी।'

'वे मेरे तो केवल पति हैं, लेकिन स्त्री-पुरुष का संबंध हममें नहीं है। वह तुम दोनों में है।'

'झूठ नहीं कहूंगी। ऐसा ही है।' निर्मला कहती है : 'मैं इनके बिना नहीं रह सकती। मैं संसार में किसीकी भी चिन्ता नहीं करती।'

'मैं समझती हूं। इतने अंधेरे में इतनी दूर, अकेली आई हो, इन्हींके लिए ही तो। क्या यह मैं नहीं समझ सकती ?'

कमरे में नीरवता है। डॉक्टर नहीं समझ पाते कि क्या करें ? निर्मला भी नहीं समझ पाती।

नीला कहती है : 'बहुत दूर से आई हो ! सो जाओ। मेरे बिस्तर पर लेट जाओ !'

'और तुम ?'

'मैं बरामदे में आरामकुर्सी पर लेटी रहूंगी। जब तुममें इतना आकर्षण है, तब मैं तुम्हारी प्रशंसा ही करूंगी। इस समाज में स्त्री के लिए ही सारी बदनामी है। मेरे घर में रहने से तुम बदनाम नहीं होओगी। वकील साहब को भी संदेह नहीं होगा। जितने दिन का यह प्रेम है, उसका आवेश पूरा हो जाने दो, अन्यथा इसका जो भी अंश मेरा है, वह भी मेरे हाथ नहीं आ पाएगा।'

नीला बाहर चलती है।

निर्मला खड़ी हो जाती है।

'क्यों ?'

'मैं जाऊंगी।'

'कहां ?'

'घर।'

'किसके घर ?'

'अपने।'

'तुम्हारा घर तो ससुराल है। कहो मायके ही न ?'

निर्मला उत्तर नहीं दे पाती। नीला फिर कहती है : 'जब तक

मैं यहां हूं तब तक तुम्हें डर नहीं निर्मल। तुम्हारी ससुराल का दरवाजा खुला रहेगा। ऐसी भूल मत करो। जो पुरुष मुझे उपेक्षित करके तुम्हें ला सकता है, उसका पूरा भरोसा मत करो। संभव है वह समय पर तुम्हें छोड़ दे।'

'यह गलत है।' डॉक्टर हठात् खड़े होकर कह उठते हैं: 'तुम समझती हो कि मैंने तुमसे कोई विश्वासघात किया है?'

नीला आंखें मिलाती है।

'बोलती क्यों नहीं?'

'मैं नहीं बोलना चाहती। मैं आपसे पूछती हूं कि आपके मन में ऐसा भाव क्यों आया?'

डॉक्टर को लगता है कि वे कच्चे पड़ रहे हैं। कहते हैं: 'दुनिया में ऐसा ही चलता है, इसीलिए ऐसा लगता है मुझे। लेकिन मैं कोई पाप नहीं करता। निर्मला भी पाप नहीं करती। स्त्री-पुरुष प्रेम करने को स्वतंत्र हैं। हमको समाज ने किसलिए बांधा है? हम क्यों अपनी इच्छाओं का दमन करें? तुम मेरे लिए एक अनजान स्त्री हो। तुमसे मैं प्रेम नहीं कर सकता, वह व्यभिचार होगा। निर्मला वकील साहब के साथ एक वेश्या की भांति जीवन क्यों व्यतीत करे?'

नीला कहती है: 'मुझे कोई दुःख नहीं है। हमारे समाज में बंधन ही हैं। पर आपने मुझसे शादी भी की। मैंने तो नहीं कहा था!'

'तुम्हारे पिता ने मेरे पिता को मजबूर कर दिया था।'

'और आपके पिता ने आपको।'

'हां।'

'ठीक है, जिसका जैसा स्वार्थ होता है, वह वैसा ही [तो करता है। अब मेरा भी कुछ स्वार्थ है। पर मुझे आपकी चिंता नहीं। इस स्त्री की चिंता है, क्योंकि यदि यह बदनाम हो गई, तो आप भी होंगे और उसमें मेरा अपमान होगा, क्योंकि तब सब कहेंगे कि मेरा पति एक पराई स्त्री से व्यभिचार करता था। उसमें जाने-अनजाने मुझ-पर ही आघात होगा न ? वह मैं नहीं चाहती।'

वह बाहर आ गई है। लेकिन वह चौंक उठती है। राजम वहां जाने कब से खड़ी सुन रही है।

'तुम ?'

'हां !'

'यहां क्या कर रही हो ?'

'आवाजों से मेरी नींद खुल गई। मैंने सोचा, शायद कोई बात हो।'

'नहीं, कोई बात नहीं है राजम ! मैं उनसे बातें कर रही थी।'

'चलो तुम मेरे साथ। बरामदे में सर्दी लग जाएगी।'

'अब मुझे कुछ नहीं लगेगा राजम।'

'तुम चलो नीला ! मुझे डर लग रहा है।'

नीला हंसती है।

राजम बड़बड़ाती है : 'बेशरम···व्यभिचारी···'

नीला कहती है : 'ऐसा नहीं कहते राजम, ऐसा नहीं कहते···'

राजम नीला का मूर्च्छित शरीर संभाल लेती है···।

उसी नीला ने निरासक्त भाव से लिखा है।

नीला को कोई एतराज नहीं था, लेकिन डाक्टर और निर्मला ने

होटल में जाकर ज़हर पी लिया और सदा के लिए सो गए। वे सदा के लिए एक हो गए या कहा जाए अपनी-अपनी अनंत यात्रा पर चलने के लिए अलग हो गए।

उन्हें अपने प्रेम को खंडित देखना मंजूर नहीं था। स्त्री और पुरुष में जब आकर्षण हो और उसमें व्याघात डाला जाए तो कभी-कभी वह इस सीमा तक उद्दण्ड हो सकता है कि मिट जाना पसन्द करता है, सिर झुकाना नहीं। आंधी से भी भयानक होती है रक्त की वह हलचल जिसे मनुष्य ने प्रेम की संज्ञा दी है। वह बुढ़ापे में क्यों नहीं रहती ? तो क्या स्त्री और पुरुष वह यौवन की झकझोर ही नहीं है ?

रात हो गई थी। नीला बैठी रही। घर सूना था। कैसी नीरवता छा रही थी। रोज़ भी तो सन्नाटा ही रहता था। लेकिन उस रात अचानक ही नीला को कुछ अजीब-अजीब-सा लगने लगा था। ऐसा क्यों होता है ? जब कोई दुर्घटना होने को होती है, तो काल के आयाम में मन को उसकी दुराशा पहले से कैसे छूने लगती है ?

चांदनी आई थी। कल की तरह खिड़की से कूदकर वह चलती हवा से कांपती बेल की छाया से टकराती मेज़ पर बिछी प्लास्टिक चादर पर फरफराने लगी थी। लेकिन कल वह अनमनी थी, आज वह कुछ व्याकुल थी। ऐसा क्यों हो रहा था ?'

नीला चौंक उठी थी। वह भीतर गई थी। नहीं, कोई आहट नहीं हुई थी। यह केवल उसका भ्रम था।

और तभी भागा हुआ आया था एक आदमी।

'बीबीजी !'

'कौन ?'

'मैं होटल···से आया हूं।'

'क्या बात है ?'

वह जैसे कह नहीं सका था। उसका गला जैसे रुंधा तो नहीं था, पर वह सोच नहीं पा रहा था कि बात को शुरू कहां से करे।

बत्ती का प्रकाश नीला के गंभीर मुख पर जैसे केन्द्रित होती निस्तब्धता बनता चला जा रहा था। वह घबराने लगा था। पर नीला ने पूछ लिया और जो उसे ज्ञात हुआ वह उसे क्षण भर को जड़ कर देने के लिए काफी था। नीला ने अपने नीचे का होंठ दांतों से भींच लिया था, जैसे वह रोना नहीं चाहती थी।

होटल में डॉक्टर और निर्मला बैठे होंगे। उन्होंने किस आवेश में एक दूसरे के साथ मरने का निश्चय किया होगा। मरता कौन नहीं ? लेकिन आत्महत्या, जिसे सब लोग कायरता कहते हैं, व्यक्ति में कितने साहस की पराकाष्ठा बनकर अवतरित होती है। क्या वह एक मूर्खता नहीं ? यदि समाज रोकता है तो क्या अवरुद्ध हो जाना ठीक है।

नीला को डॉक्टर से घृणा हो रही है। वह उसे छोड़कर जा सकता था। निर्मला अपने पति को छोड़ सकती थी। किस कारण ने उन दोनों को ऐसा कायर बना दिया था कि उन दोनों ने विद्रोह नहीं किया। वे घुट-घुटकर क्यों रहते थे ? और घुटन भी कैसी ? जिसमें भयानक वासना थी, प्यास थी। माता-पिता के डाले बोझ से वे दब

गए थे। उन्होंने अपनी मर्ज़ी के खिलाफ ये शादियां कर ली थीं। लेकिन वासना फिर भी नहीं दबी। वे छिप-छिपकर मिलते रहे। निर्मला के पति को ज्ञात था, नीला जानती थी। दोनों ने कभी कुछ नहीं कहा। तब डॉक्टर और निर्मला का विद्रोह केवल वासना और पाप बन गया। जिस समाज में इतने बंधन थे, वहां नीला और वकील साहब के शांत आचरण ने डॉक्टर और निर्मला के व्यवहार को उच्छृंखलता प्रमाणित कर दिया था।

तो क्या प्रेम कर्तव्य के आगे आकर स्वयं ही लज्जित हो गया। शायद ये दोनों यदि विद्रोह करते तो डॉक्टर और निर्मला को समाज से बदला लेने का सुख मिलता। यदि ये लोग चिढ़ते तो उनकी प्रतिहिंसा को तृप्ति मिलती। पर नहीं। ये लोग नहीं बोले। और तब...

तब उन दोनों को सिर छिपाने की जगह नहीं रही। निर्मला के पास वकील के सामने जाने के लिए राह नहीं थी। डॉक्टर फिर नीला का विश्वास प्राप्त नहीं कर सकता था। फिर भी वे दोनों रह सकते थे, परन्तु वे निर्लज्ज नहीं थे, उनकी आत्मा में यह भाव बैठ गया था कि कुछ भी हो, कैसा भी उनका प्रेम रहा हो, वे समाज में आदरणीय व्यक्ति नहीं रहे थे।

उस आवेश में वे मर गए थे और सदा के लिए पटाक्षेप हो गया था। एक का पूरा एम० बी० बी० एस० तक की पढ़ाई का जीवन, खर्चा, यह आशा कि वह समाज का कुछ कार्य करेगा, इसलिए समाप्त हो गया सब कुछ कि वह एक स्त्री से केवल इस कारण से दूर कर लिया गया था कि उसे जिन माता-पिता ने पाला था, उससे उस पालन-

पोषण का बदला उन्होंने मांगा था। उस स्त्री को भी इसी लोक-मर्यादा के आगे झुकना पड़ा था।

लेकिन विवाह के बाद भी वे दोनों अपने तन-मन से एक दूसरे से दूर न हो सके। वे जिन परिस्थितियों में समीप आए, वे बंधनों से ग्रस्त थीं। तब न्याय और नियम की सामाजिक परिभाषाओं में नीला और वकील ही डॉक्टर और निर्मला से वह सब प्राप्त करने के अधिकारी थे जो कि डॉक्टर और निर्मला एक दूसरे को दे रहे थे। उन्होंने समझा था कि किसीका बदला किसी और से लिया जा सकता था। फल क्या निकला !

जैसे माटी के दो कुल्हड़ों पर से सड़क कूटने का रोलर निकल गया हो। वे नहीं रहे। वकील साहब ने कलम का ढक्कन उस रोज़ बंद कर दिया और नीला ने अपनी पलकें मूंद लीं।

लाशें निकाली गईं। घर के लोग आए। लेकिन नीला और वकील एक दूसरे से अपरिचित खड़े रहे। वह आई थी अपने पति की लाश लेने जो एक पराई स्त्री के साथ खो चुका था और वकील साहब आए थे अपनी कुलटा पत्नी की लाश उठाने।

अब वकील साहब ने फिर अपने मुवक्किलों की फाइल खोल ली। लेकिन नीला ?

इसलिए नीला ने मुझे पत्र लिखे हैं। एक के बाद एक।

पूछा है—अब !

यह 'अब' मेरे जीवन की व्यस्तता में कितना बड़ा प्रश्न बनकर आ गया है ? इसका मैं क्या उत्तर दूं ?

जहां तक घटना चलती है, वहां तक तो सभी कथाएं चलती हैं।

लेकिन वह कैसी सीमा है जहां राह नहीं दिखाई देती, लेकिन पांव फिर भी मंजिल ढूंढ़ते रहते हैं। नीला के शून्य नयन आज मुझे ऐसे देख रहे हैं जैसे मैं एक पृथ्वी हूं जिसपर वह अपनी क्षितिज-रूपी बांहें टेक देना चाहते हैं। उर्वर धरती में बीज गिरते हैं तो हरियाली फूटती है। लेकिन बंजर में बीज अपनी सार्थकता को निष्फलता के हाथों लुटा देता है।

नीला! मैं तुम्हें क्या उत्तर दूं? क्या तुम डॉक्टर से घृणा करती हो? क्या तुम निर्मला से घृणा नहीं करतीं?

मैं सब कुछ भूल जाना चाहता हूं।

परन्तु जीवन विस्मरण नहीं है, यदि है तो वह एक पागलपन है।

क्या दूसरों की वेदना का मुझे स्पर्श न हो, इसलिए परमात्मा मुझे पागल बना सकता है।

कौन गा रहा है—

वैष्णव जन तो तेणे रे कहिये
जे पीर पराई जाणे रे···

···मन अभिमान न माणे रे···

उफ! शताब्दियों पूर्व की यह संवेदना! नीला!

कहां हो नीला?

मैं कहां जाऊं?

कल्पना

क्या तुम अकेली बैठी हो ?

मैं कहां हूं ? मेरा दिशाकाल कहां चला गया ? ओ मेरी सत्ता ! तुझे मैं अपने से अलग देख सकता हूं ? तू मुझे अतीत में ले जाकर कहां पटक रही है ?

ये किसके शव मेरे सामने से जा रहे हैं···

डॉक्टर···निर्मला···

प्रेम के शव या वासना के···

मजबूरी के या घृणा के···

वकील साहब फाइल में भूल सकते हैं, लेकिन नीला···

मेरे पास क्या कहीं कोई उत्तर शेष है···
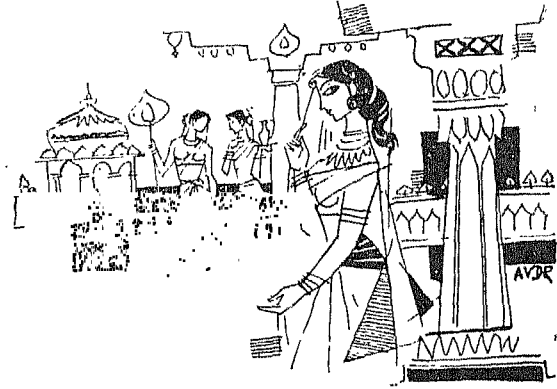
२

कल्पना

सारे काम पड़े थे। देख-देखकर मन ऊब रहा था। सोचने लगा। क्यों करूं इतने सारे काम? भीतर कमरे में कुछ गर्मी-सी महसूस हो रही थी। उठा और बाहर आ गया। बाहर आते ही मन जैसे भारी हो गया। उफ! कितनी सुन्दर और रंगीन तितली उड़ रही थी? देखता का देखता रह गया मैं।

जीवन की बगिया में रस लेनेवालों के लिए कितने-कितने फूल खिले हैं, तरह-तरह के। लेकिन हम हैं कि अपने बनावटी कामों में उलझे रहते हैं, उन्हें ही महान समझकर। हम उस घोड़े की तरह हो गए हैं जो निरन्तर भागता चला जाता है। ऐसी मूर्खता क्यों करते हैं हम! अच्छा है वह घोड़ा जो मन करने पर भाग लेता है, फिर घनी

हरियालियों में घूमता, कहीं-कहीं चरता, अच्छे सरोवर का पानी पीता हुआ, छायाओं में सो जाता है। क्यों नहीं हम भी वैसे ही सुख से रहते ?

और तभी मंदिम समीर हिला। एक बल खाया कि गुलाबों के दल के दल झूमने लगे। गंध फरफराने लगी। ऐसी कि मन को भर गई। माटी की सौंधी गंध से भी व्यापक थी वह हिलोर !

मैं तितली के पीछे चलता हुआ फुलवारी में उतर गया। मेरे कमरे की जाली की खिड़कियां अब मुझे ऐसी लगने लगीं, जैसे वह किसी दूसरी दुनिया के भीतर ले जानेवाला राहें थीं। यह पवन उनमें भी जाता था, लेकिन भाराक्रांत होकर लौट आता था।

मैं नींबुओं की छाया में पहुंच गया।

ओहो ! मेरे इतने पास ही एक और लोक बसा हुआ था ! वह मेरा देखा हुआ भले ही रहा हो, लेकिन उसकी अनुभूति मुझे अब ही हुई थी।

एक-एक पत्ता रस से सिंच गया सा। कभी-कभी उनसे ऐसे बूंद चमक-कर टपक पड़ती जैसे प्याले में उफान आ गया हो। शिला कितनी शीतल थी ! जाने वह किस युग की थी। जाने कब से पवन उसे चिकना कर रहा था, और आज फिर बादल उसे धोने आ गए थे। फुही की मंद-मंद सिहरन कभी-कभी उसपर भी दौड़ जाती थी।

मैं वहीं बैठ गया उसपर। सामने की बेल में से सुगंध आ रही उसपर पीली कमर का भौंरा झूमता गंज रहा था। यह सब कल तक कहां था ! मैंने इस सबको देखा क्यों नहीं था ?

लो ! वह मेंढक निकल आया और मुझसे बोला—अरे ! तुम कैसे

आ गए यहां ?

मैंने कहा—दादुर ! तू कहां था ?

—मैं ? मैं धरती के भीतर जा छिपा था। वह सूर्य है न ? बड़ी गर्मी उगल रहा था। मैंने कहा, क्या लाभ उस उजाले से, जो जलाने लगे। और कुछ काम तो था नहीं, इसलिए मैं चला गया।

—ठीक है—मैंने कहा—तुम कितने सुखी हो ! तुम्हें कोई काम नहीं करना पड़ता। हम तो मनुष्य हैं, मजबूर हैं। हमें तो जीवित रहने के लिए काम करने पड़ते हैं।'

पतली आवाज से जैसे टिटहरी हंस दी। पुकारा मदविह्वल पपीहे ने।

बादल आकाश में आते हैं तो उनकी रेखाएं दिखाई देती हैं। कभी-कभी बादल ऐसा बन जाता है कि वह स्वयं आकाश बन जाता है। उस दिन वह कुछ और-और-सा दिखाई देने लगता है।

शीतल समीर अब अठखेलियां करने लगा था। पास में ही शिव-मूर्ति थी। मैं उठकर उसे देखने लगा। बहुत पुरानी थी वह मूर्ति। कितनी पुरातन होगी ! यही सोचते हुए मैं आगे बढ़ चला। श्याम चिड़िया मेरे सामने से उड़ गई। देखा मयूर नाच रहा था, बाईं तरफ। कैसा पहुंचा हुआ कलाकार था जो इस इच्छा से नहीं नाच रहा था कि कोई उसे देखे। नाच रहा था, क्योंकि उसे आनंद आ रहा था। आनंद तो वही है जो अपना हो। उसे दूसरे को दिखा-कर प्रशंसा पाने की आवश्यकता ही क्या है ? तब मैंने सोचा कि मैं तो अब चला आया हूं। यह जिसमें कि मुझे आनंद आ रहा है, यह मेरी आत्मा का निखार है, परिष्कार है।

कल्पना

नींबुओं के बाग के बीतते ही मैं तो एक विशाल वन में आ पहुंचा। यहां तो वड़ा भारी संसार चल रहा है।

पिड़कुलियां अपने पंखों को चोंच से रगड़ रही हैं। पानी की मट-मैली पीली धाराएं बह आई हैं और हरी-हरी घास को सान रही हैं। लाल गर्दन का पक्षी बैठा कुछ देख रहा है। और फिर आम के फल पके हैं, पीले-पीले। कितने वृक्ष हैं। कदंबों की मस्ती का तो मैं वर्णन ही क्या करूं !! कितना सौन्दर्य यहां था, और है !

मैं वहीं बैठ गया ! अब लौटने की इच्छा नहीं होती ! कहां जाऊं लौटकर ! ओ मुझे जन्म देनेवाले ! तूने जो मुझे ऐसा बनाया है कि मैं तेरे खेल को देख सकता हूं, इसलिए मुझे लगता है कि तू मुझे भी लिए खेल रहा है। खेल ले निर्दय ! मुझे प्यार की प्यास थी, पर तूने मुझे दिया है उपेक्षाओं का सागर। इसे पियूं भी तो किस तरह !

मैं लेट गया हूं। यह कितने सुन्दर श्वेत फूलों से लदा वृक्ष है जिसके नीचे मैं लेटा हूं ! इसमें से कितनी गंध आ रही है कि मन में भीतर तक जैसे बसती चली जा रही है। आज तक मुझे कभी ऐसी शांति नहीं मिली। लेकिन हे भगवान, अब कभी इस नींद को छीन मत लीजो ! मुझे सो जाने दे, सो जाने दे···

कैसे सो जाऊं मैं ?

क्यों ?

कोई मर गया है।

तो ?

किसीकी मौत पर भी तुम सो सकते हो ?

किसकी मौत पर तुम सोना छोड़ सकते हो ?

ठीक कहते हो मन !

ठीक वही है जिसमें आराम है ?

यानी स्वार्थ।

इस शब्द को मत कहो।

क्यों ?

इसमें दृष्टिकोण बदल जाता है।

परंतु वस्तु का सत्य क्या है ?

हर तरफ से देखना।

वही तो मैं कर रहा हूं।

परन्तु तुम कभी भी निष्पक्ष हो ही नहीं सकते।

क्यों ?

क्योंकि इस सबके केन्द्र के रूप में तुम ही तो हो।

तब फिर जो कुछ है लोक में, इस क्षुद्र अहं से सम्बन्धित है। मूलतः वही है जो सबको परिचालित कर रहा है। इस प्रकार के कई अहं मिले हैं, उन्होंने आपसी समझौते के लिए कुछ नियम बना लिए हैं। इन्हींमें हैं हमारी मर्यादाएं, हमारे पाप-पुण्य ? यही बात है ?

बिल्कुल ! तुम खाते हो, पत्नी के लिए साड़ी लाते हो, अपने बच्चे के लिए लाते हो खिलौने। तुम्हारा अपनी पत्नी और संतान से संयोग का सम्बन्ध है। वह पैदा किया गया है। स्वार्थ को न्याय बनाया गया है, धर्म का नाम देकर। लेकिन जो लोक से तादात्म्य करता है, उसका परिवार सारा संसार क्यों हो जाता है, क्यों वह अपने को संकुचित नहीं रखता ?

मैं सोचता हूं......।

तुम कभी नहीं सोचते।

क्यों ?

क्योंकि डरते हो।

किससे ?

तुम अपनी उन मर्यादाओं से डरते हो जो तुम्हारा संस्कार बन गई हैं। उनके साथ एक दर्शनशास्त्र है, कानून है, सब कुछ बनकर एक ढांचा-सा खड़ा है। उस ढांचे की छत से बाहर तुम असली आकाश को देख ही नहीं सकते।

ऐसा क्यों होता है ?

क्योंकि विद्रोह की चेतना बड़ी कमनीय होती है। उसे विश्वास और विवेक ही जागरित कर सकते हैं। उनके लिए हृदय में न्याय और सच्चे प्रेम का स्नेह यानी तेल चाहिए। उसे मन में बहाना क्या आसान है? पहला अड़ंगा आएगा तुम्हारे मन में—अरे क्या रखा है, जो थोड़े-से दिन हैं, इन्हें आराम से निकाल दो क्योंकि प्रचलित मान्यताओं को उखाड़ना चाहते हो। हो सकता है कि जितना तुम उससे लाभ समझते हो, उससे दुगनी हानि हो जाए, क्योंकि अवसरवादी उसका भी लाभ उठाएंगे।

मैं उठ बैठा हूं।

नीला मुझे सोने दो।

मैं यहां कहां थी ? क्या मैं दीखी थी ?

तुम मुझे दीखीं तो नहीं, लेकिन तुम थीं ज़रूर ।

ज़बर्दस्ती ? अपने आपसे डरते हो, और नाम मेरा लेते हो ।

चलो मन ! कहीं और चलें । इस संघर्ष से दूर । क्या कहीं भी चैन नहीं है । हमें क्या पड़ी इन बातों से । हम तो छाया से जिएंगे । जहां प्रकाश नहीं होगा, वहीं घुम जाएंगे ।

ऐसा लगा जैसे कोई बहुत ही अच्छे सुरों से गा रही थी ? ऐसा संगीत तो मैंने कभी नहीं सुना था । कौन गा रही थी, यह मैंने ध्यान से सुना नहीं । अब न उत्तरभारत में यह संगीत चलता है, न दक्षिणभारत में । यह किस अतीत का संगीत था ! मुझसे रहा नहीं गया । और यह वांसुरी कौन बजा रहा था ? इतनी मीठी स्वर-लहरी उमड़ रही थी कि जैसे त्रैलोक्य उसे सुन-सुनकर पुलकित-सा हो-हो उठता था । मैं उसी ओर चल पड़ा ।

मुझे देखकर भी हिरन चरते रहे । जैसे उन्हें मुझसे डर नहीं था । स्निग्ध छायाएं थीं और चारों ओर सुषमा फैली थी ।

देखा !

एक सुन्दर पुरुष बांसुरी बजा रहा था और एक सुन्दरी गा रही थी । वे किस युग के थे । स्त्री के सुदृढ़ वक्ष को रेशमी कपड़े ने बांध रखा था । वह गोरी थी । गले में उसके हार पड़े हुए थे । आंखें थीं

कि मैं तो देखता ही रह गया। पुरुष ने बांसुरी रोक दी। स्त्री भी मौन हो गई।

पुरुष ने स्त्री से धीरे से कुछ कहा। उसने मुझे देखा।

मैं वैसे ही अवाक्-सा खड़ा रहा। पुरुष एक हंस के पंखों जैसी उजली धोती पहने था और उसके कंधों पर एक रेशमी उत्तरीय पड़ा था। उसके सिर पर घने काले बाल थे, जो उसके कंधों तक लहरा रहे थे।

मैं आगे बढ़ा और मैंने कहा : 'युवक। इस वन में तुम कौन हो?'

युवती हंस दी। बोली : 'युवक तो तुम भी हो आगुन्तक! किन्तु ऐसा लगता है तुम्हें जीवन में स्नेह और सुख का अभाव है। इसीलिए चिन्ता ने तुम्हें मानो खा लिया है। इन्हें नहीं जानते? महाकवि कालिदास का नाम सुना है?'

'कवि कालिदास।' मैंने आश्चर्य से कहा।

'हां,' स्त्री ने कहा : 'वही हैं।'

मैंने प्रणाम करके कहा : 'अद्भुत! परम धन्य हुआ मैं जो आज दर्शन किए। महाकवि! यही वह मुख है जिससे ऐसे महान छंदों की रचना हुई?'

महाकवि ने मुझे देखा और कहा! 'युवक काल के कितने स्तरों को पार करके मुझे देखते रहे हो।'

मैंने कहा : 'महाकवि! मैंने सपनों की माटी में केवल तुम्हें सुरभि-भरे फूल की भांति देखा है।'

'तो चलोगे मेरे साथ?' महाकवि ने कहा।

'कहां।'

स्त्री ने कहा : 'तुम भयभीत क्यों हो आगंतुक कवि ! अलकापुरी जाना चाहते हैं। यक्षी की वेदना अभी भी थमी नहीं है। वैसे मैंने कई युवतियों को बुलाया है कि वे उसे सांत्वना दें, शायद वे पहुंच गई होंगी। चलो, तुम भी चलो।'

अलकापुरी ! मैं तो मोह से जैसे लुट गया। पुकार उठा—'चलूंगा। क्या यक्ष भी वहां है ?'

कालिदास ने कहा : 'मेघ जानता है। वही बता सकता है। बात यह है कि यह संदेश वही तो ले गया था न ?'

मैंने कहा : 'ले गया था महाकवि ?'

'नहीं', महाकवि ने कहा, 'मैंने तो इतनी कल्पना नहीं की थी। अपने समय में लोग पूछते थे कि मेघ कैसे सुन सकता है, कैसे बोल सकता है। मैंने कहा कि मेघ यहां प्रमुख नहीं है, यहां तो काम से व्याकुल हृदय की बात है। उसे कुछ भी नहीं सूझता। उसे तो चेतन और अचेतन में कुछ भेद नहीं दीखता, मेरी यक्षी तो विरहिणी थी, यक्ष विरही था। परंतु सौदामिनी कहती है कि बाद में लोगों ने उस अखंड विरह को खंडित कर दिया और मेघ को बातें करते दिखा दिया ! वह तो,' महाकवि ने हंसकर कहा, 'अच्छा नहीं है न ? सौंदर्य जितना मादक अपनी टीस में है, अन्यथा तो नहीं है ?'

वे जाने किस ध्यान में डूब गए। उनकी आंखों में एक नशा-सा दिखाई देने लगा।

सौदामिनी ने कहा : 'सुभग ! महाकवि मुझे सौदामिनी कहते हैं।'

'कहूंगा ही', महाकवि ने कहा, 'तुम अभी दीखती हो, अभी

तिरोहित हो जाती हो !'

मैं चकित हो गया। मैंने कहा : 'तो देवी ! तुम हो कौन ?'

'तुमने मुझे नहीं पहचाना ? मैं', स्त्री ने कहा : 'कल्पना हूं।'

कालिदास ने कहा : 'यही तो इसका दोष है।' मेरी ओर उनका हाथ उठ गया। बोले : 'जहां कवि समाप्त करता है, उसके आगे भी लोकमानस इसको देखता है।'

मैंने कहा : 'महाकवि ! कल्पना ठीक कहती है। यक्ष और यक्षी के विरह का लोक ने अंत कर दिया है।'

कालिदास ने कहा : 'किंतु कैसे हो सकता है युवक ! ऐसा कैसे हो सकता है !'

मैंने कहा : 'किंतु कल्पना का सौंदर्य यह सुनते ही इतना मलिन कैसे हो गया ?'

महाकवि ने कहा : 'चलो युवक ! हम-तुम चलें।'

वे उठ खड़े हुए। कल्पना हम लोगों के साथ-साथ चलने लगी।

इस समय हम तीनों मौन थे।

देखा मैंने ! महाकवि मेरे ही कमरे के सामने आ गए और बोले : यह कक्ष किसका है ?'

'मेरा है', मैंने कहा।

'तुम्हारा है !' बोले, कुछ आश्चर्य से।

मैंने कहा : 'आएं महाकवि ! पवित्र करें मेरे कक्ष को। आएं देवि कल्पने !' उस समय मेरा मन एक अपूर्व आनंद से भरा हुआ था।

भीतर घुसते ही महाकवि ने जब ढेर-ढेर किताबें देखीं तो पुलकित हो उठे। बोले : 'मेघदूत है ?'

है,' मैंने कहा और निकालकर दिया।

मैंने कहा : 'अरे कल्पना कहां है ?'

महाकवि ने मुस्कराकर कहा : 'सौदामिनी मैं उसे इसीलिए तो कहता हूं। अब दीखती है, अब नहीं दीखती।'

अभी हम खड़े ही थे कि आकाश में मेघ गर्जन करके बढ़ने लगा।

मैंने देखा महाकवि पुस्तकों के बीच कहीं छिप गए थे। मैं अब अकेला रह गया था।

देखा कल्पना आ गई थी। वह मुस्करा रही थी। मैंने कहा : 'देवी ! कहां गई थीं।'

'कहीं नहीं,' उसने हंसकर कहा : 'तुम्हारी पुस्तकें देख रही थी। पर यहां प्राचीन भारत के कुछ ही ग्रन्थ हैं !'

'जो बचे हैं, अच्छे हैं, वे तो हैं देवि !' मैंने कहा : 'सर्वभक्षीकाल जिन्हें खा गया, वे तो लौट नहीं सकते ?'

कल्पना ने हंसकर कहा : 'और जो हैं उन्हें देख चुके हो ? तुमने जीवन की वेदना की अनुभूति को कभी मन से छुआ है ?'

'छूने की इच्छा करता हूं सुंदरी,' मैंने कहा : 'लेकिन मुझे अवकाश नहीं मिलता।'

वह हंसी। बोली : 'वह कभी नहीं मिलेगा ! आज और अब ! आज और अब ही सुख का आधार है, कल नहीं। देखो। मेघ गगन

में गर्जन कर रहे हैं। उनमें बिजली और इन्द्रधनुष की अमर क्रीड़ा चलती रहती है।'

यह कह कल्पना ने जैसे हाथ क्या हिलाया, मेरे सामने से शून्य फट गया और मैं दूसरे ही लोक में जा पहुंचा।

देखा, अनंत में खड़ा हूं।

आकाश के मेघ बहुत ऊंचाई पर थे। नीचे विशाल महल खड़े थे। मैं तो देखता ही रह गया। यह मैं कहां आ गया था।

मैंने प्रासादों में चहल-पहल देखी।

भीतर घुसा। भीतों पर सुंदर-सुंदर चित्र बने थे। ललिताएं इधर-उधर घूम रही थीं। प्रासादों के आंगन में स्फटिकमणियां जड़ी थीं। संगीत चल रहा था, मृदंग बज रहे थे। उनमें से मेघों के गर्जन से टक्कर लेती आवाज़ निकल रही थी।

मैं एक ओर बढ़ चला। देखा, वहां स्त्रियां कितनी सुंदर थीं। किसीके हाथ में लीला-कमल था, किसीने अपनी अलकों में कुंद की सफेद सुगंधित कलियां गूंथ रखी थीं। किसीके मुख पर लोध्र के फूलों का पराग झर-झर कर गिर गया था, जिसके कारण सारी शोभा सुनहली-सुनहली-सी दिखाई देती थी। उसके पास बैठी सुंदरी के कानों पर शिरीष के फूल थे, कोमल, नर्म और पतले रोएं वाले। मैंने देखा उसी समय एक युवती भीतर से निकलकर दूसरी ओर चली गई। उसका हास्य झंकार उठा। जब वह मुड़ी तो देखा कि उसकी चोटी में कुरबक के फूल गुंथे हुए हैं। उसके भीतर जाने पर एक तरुणी ने उसी द्वार से पुकारा: 'आओ सखियो!'

मैंने देखा कि पुकारनेवाली की मांग में कदंब के रोएंदार फूल लगे हैं।

वे सब भीतर के प्रकोष्ठ में चली गईं। मैं सोचने लगा कि यह कौनसी जगह है जहां छत्रों ऋतुओं के फूल एकसाथ खिलते हैं। चारों ओर मादक गंध फैल रही थी।

धीरे-धीरे रात घिर आई। मेघ कुछ फट चले और तारे निकल आए। मैंने देखा कि महल की भीतें स्फटिकमणि की बनी थीं, जिनमें तारों की छाया पड़ने लगी। ऐसा लगने लगा जैसे वह तारों का प्रतिबिंब नहीं था, बल्कि फूल थे। भीतर से मंद-मंद ध्वनि से मृदंग फिर बजने लगे जैसे मेघों का मंत्रनाद हो रहा था। मैं बढ़ चला।

देखा कि सुंदर यक्ष यौवन से स्फुरित हो रहे थे। सुंदरी यक्षियों के साथ वे कल्पवृक्ष के पास थे।

कल्पवृक्ष !! जो चाहो वही देने वाला वृक्ष !! उसने धरती की दरिद्रता को मिटा दिया था। रसिकों ने उसकी मदिरा को पीकर अखंड यौवन का विभोर आनन्द प्राप्त किया था। और अब उनमें रस की अनुभूति थी, यौवन के मादक स्पर्शों का सुख उन्हें सौगुना अधिक होता था।

स्त्रियां आनन्द से किलकारी-सी भरकर हंसती थीं। उनके नेत्रों में एक नशीली बेसुध तन्मयता थी।

मैंने देखा कि कहीं कोई रात्रि-पक्षी बोल उठा। उसी समय सरककर मैं एक ओर हो गया। कोई अभिसारिका अपने प्रिय से मिलने चली जा रही थी। उसकी गति में कैसा कम्पन था! केशों से मंदार पुष्प गिर रहे थे, कानों में खुसे सुनहले कमल नीचे खिसते आ रहे थे। उसके उन्नत यौवन पर मोतियों की माला जैसे लड़खड़ा रही थी और मेरे देखते ही देखते वह टूट गई, मोती ढुलक पड़े। मैंने सोचा।

यह सुंदरी रात के एकांत में अपने प्राणप्रिय से मिलने कैसी मद-विभोर-सी चली जा रही है। किन्तु कल जब प्रातःकाल सूर्योदय होगा तब इसके ये मोती, इसके केशों और कान से गिरे ये फूल, क्या इसके इस रात्रिगमन की सूचना सबको नहीं दे देंगे? किन्तु मन ने कहा कि नहीं। वे तो केवल अभिसारिका का पथ बताएंगे। यह तो नहीं बताएंगे कि कौनसी अभिसारिका गई थी!

मैं उसीके पीछे धीरे-धीरे चल पड़ा। वह तो अपने ध्यान में मग्न चली गई कि मैं रुक गया। सामने ही एक विशाल भवन था। उसका द्वार भव्य था, रंग-बिरंगा। ऐसा लगता था जैसे कोई इंद्रधनुष रखा था। मैं भीतर चला गया। आंगन के बीच में एक मंदार वृक्ष था। उसके पास एक स्त्री खड़ी थी। और उसे अत्यन्त स्नेह से देख रही थी। फूलों के बोझ से वह वृक्ष जैसे झुक गया था।

उसी उपवन में एक सुंदर ताल था। सुंदरी उसी ओर चल पड़ी। उसके सुंदर चरण पन्ना की सीढ़ियों पर अत्यन्त शोभित हुए। ताल में नीलम के रंग के मृणालों पर सुनहरे कमल छाए हुए थे। सुंदरी उसमें आनन्द से निवास करते हंसों को देखती रही। और फिर बोली: 'अभी तक मेघ नहीं आया? कहीं उसके आने पर फिर मुझे अकेली छोड़कर मानसरोवर तो नहीं चले जाओगे?'

हंस झंकार कर उठे। सुंदरी के मन में जैसे नई व्यथा भर गई। वह मुड़कर क्रीड़ाशैल के पास आ गई जिसकी चोटी में बड़े-बड़े नीलम जड़ दिए गए थे। उस शैल के चारों ओर एक सुनहरे केले के वृक्षों की बाड़ लगी हुई थी।

वहीं चमेली की झाड़ी थी। और कुरे की बाड़ के पास एक रक्त

अशोक का दुलारा वृक्ष था जो सुंदरी को देखकर जैसे पुलकित होकर अपने पत्ते हिलाने लगा। उसके पास का बकुल उसकी आतुर प्रतीक्षा करता हुआ-सा दिखाई दे रहा था।

मैं हट गया। स्त्री वृक्षों के नीचे चली गई जहां एक सोने का खंभा गड़ा था। उसपर एक बिल्लौर की चौकी रखी थी, उसकी जड़ में पन्ने ऐसे जड़े हुए थे, जैसे नये-नये हरे-हरे बांस हों। इस समय वहां कोई नहीं था। स्त्री ने ऊपर देखा और मयूर की उनींदी छाया-सी उसे दिखाई दी।

जब वह भवन में लौट आई तब मैंने दीपक के प्रकाश में देखा। उसके होंठ बिम्बाफल जैसे थे। उसके दांत अनारदानों-से थे। नाभि गहरी, शरीर दुबला था। वह चकित हिरनी जैसी देखती थी। और अपनी पतली कटि के कारण नितंबों के बोझ से चलने में कुछ अलसाती थी, मानो कुचों के बोझ से वह झुक-झुक जाती थी।

वह अनिंद्य सौन्दर्य देखकर मैं तो चकित रह गया। ऐसा लगता था जैसे विधाता ने उसकी रचना में कोई कसर नहीं रखी थी।

तभी आकाश में मेघ गर्जन कर उठे। वह शय्या पर सिर धरकर रोने लगी। मुझे लगा जैसे चकवे के बिना चकवी अकेली रह गई थी। जैसे शीत ने कमलिनी को आहत कर दिया था। रोते-रोते उसकी आंखें कुछ सूज-सी गईं। मैं देखता रहा, उसकी सांसें गर्म-गर्म निकलने लगीं और उसके होंठों का रंग फीका पड़ गया। उस समय उसके खुले केशों के बीच उसका मुख ऐसा लगा, जैसे वह कोई मलिन चन्द्रमा था।

मैंने कहा : 'सुभगे! कब तक यों ही व्याकुल बनी रहोगी? यक्ष

कोई सदा के लिए तो नहीं चले गए। क्या इतने ही दिन के लिए तुम्हें इतना असह्य विलंब हो गया ?'

पिंजरे में बैठी मैना पुकार उठी : 'विलंब हो गया ! विलंब हो गया !'

यक्षी ने कहा : 'नहीं बंधु ! जहां आसक्ति हो, वहां युग और पल में क्या कुछ भेद होता है ? मैं अकेली कहां रहती हूं।'

'तुम्हारे वस्त्र,' मैंने कहा : 'मैले हो गए हैं। तुम्हारी वीणा आंसुओं से भीगी-सी उधर रखी है। शायद देहली पर शाप की अवधि के दिन गिनने के लिए तुमने ही ये फूल चढ़ाए हैं ?'

मेरे यह कहते ही वह फिर फूट-फूटकर रोने लगी। मैंने देखा कि रात का सूनापन काटना उसके लिए एक दुष्कर कार्य था। दिन तो वह किसी भी भांति काम-धंधों में बिता लेती थी।

मेरा साहस नहीं हुआ कि उसे और सताता। मैं बाहर चला आया। अंधेरे पाख की चौदस का चंद्रमा निकल आया। शायद वह अब भी भीतर गर्म-गर्म आंसू बहाती रो रही थी !

मेरा हृदय विषाद से व्याकुल था। अभी तक मेघ क्यों नहीं आया था ? जी चाहता था कि मैं उसे स्वयं बुला लाऊं !

फिर बजने लगे गंधर्वों के वाद्य और सारा बांसों का वन झंकारने लगा। युवक-युवतियों के विहार हो रहे थे। कहीं बांसुरी बज रही थी, कहीं पणव। तरुण लोग मस्ती से मदिरा के चषक भर-भरकर पी रहे थे और उनकी गोष्ठी में मुझे आनन्द ही आनन्द दिखाई दिया।

यह जीवन कैसा है, मैं तो यही सोचता रह गया। चारों ओर

हर्ष और उल्लास और बिचारी अकेली यक्षी विरहिणी।

मैं चलने लगा। शून्य के किसी भाग में था मैं, जब मुझे पांवों की चाप सुनाई दी। मैंने मुड़कर देखा। एक स्त्री थी।

वह मुझे देखकर मुस्कराई। उसके मुख पर पवित्र सौम्यता थी। मैंने देखा। वह देखने में अच्छी थी। कौतूहल हुआ और मैं उसकी ओर बढ़ चला।

३

अवदातिका

स्त्री नदी-तीर पर बैठ गई। मैं पास जा खड़ा हुआ। उसने चुल्लुओं से भरकर पानी पिया और मुझे देखा। फिर कहा : 'आप कौन हैं आर्य !'

मैं और आर्य ! सोचने लगा। यह कौन थी।

कहा : 'देवी ! आप कौन हैं ?'

बोली : 'मैं अवदातिका हूं।'

'अवदातिका !'

'हां।'

'मुझे अपना परिचय देंगी ?'

'अभी मुझे रंगशाला में जाना है।'

'देवी, अभी तो संध्या में कुछ विलंब है। आप नटी हैं ?'

'नहीं आर्य ! मैं पात्री हूं। मैं अवदातिका ही हूं।'

'तो यह अवदातिका कौन है ?'

'मैं सुनाती हूं, क्योंकि मैं अवदातिका हूं।'

हम दोनों सिकता पर बैठ गए। वह कहने लगी : 'देवासुर-युद्ध में महाराज दशरथ विजयी हुए। उन्होंने राजकुमार राम के लिए राजोचित प्रभुत्व के परिचायक राज्याभिषेकोत्सव का प्रबंध करने की आज्ञा दी। आर्य संभवक प्रतिहारी पुरोहित को बुलाने में संलग्न थे। सारसिका रंगशाला का प्रबंध कर रही थी। उस समय मैं अपने हाथों में वल्कल ले आई। सच मुझे अच्छा नहीं लगा। लाई तो थी खेल-खेल में, लेकिन न जाने क्यों मुझे डर-सा लग आया। बताओ न ! बुरी नीयत से दूसरों का धन हर लेने वालों का तो जाने क्या हाल होता होगा। इच्छा यह भी होती थी कि हंस लूं। लेकिन अकेले तो कोई हंसता अच्छा नहीं लगता।

मैं कुछ भयभीत थी। यह बात मेरी सखी सीता से छिपी नहीं रह सकी।'

यह कहकर अवदातिका ने मेरी ओर देखा और कहा : 'सीता का तो नाम सुना है ?'

'हां, हां,' मैंने कहा : 'किन्तु तुम अपनी कथा सुनाओ देवी !'

वह फिर कहने लगी : 'वह समय भी कैसा था ? मांगलिक बाजे बज रहे थे। कुश, पुष्प और मंगलमय तीर्थजलों से भरे हुए कलश रखे थे, चारों ओर आनंद की सृष्टि हो रही थी। आर्या सीता ने अपनी बात दुहराई। पूछा : तू डरी हुई क्यों लगती है ?

शायद मैं सहम गई थी। चेटी आर्या के साथ थी। बोल ही तो पड़ी : अवश्य ही इससे कुछ अपराध हो गया होगा। अनुचरों से तो भूलें होती ही रहती हैं।

लेकिन देवी समझ गई कि मैं डरी हुई नहीं थी। असल में तो मैं हंसना चाहती थी।

मैं उनके पास चली गई। कहा : भट्टिनी की जय हो। मुझसे किसी प्रकार का अपराध तो नहीं हुआ।

बोलीं : अरी, तुमसे कौन पूछती है अवदातिके ! पर यह तुम्हारे बायें हाथ में क्या है ?

मैंने कहा : भट्टिनी ! यह तो वल्कल है।

चौंक उठीं। बोलीं : वल्कल ! तू कहां से उठा लाई ?

मैंने कहा : भट्टिनी ! नेपथ्यरक्षिका आर्या रेवा हैं न ? उनसे मैंने कहा कि नाटक तो हो चुका। अब यह अशोकपत्र का वल्कल भी काम आ चुका। लाओ, इसे मुझे दे दो, तो बोलीं : नहीं, नहीं दिया जा सकता। बस भट्टिनी ! तो मैं इसे चुपचाप उठा लाई।

भट्टिनी ने कहा : अरी ! यह तो तूने ठीक नहीं किया। जा इसे लौटा दे।

मैंने कहा : नहीं भट्टिनी ! मैं तो इसे हंसी-हंसी में उठा लाई हूं, ऐसी कोई बात नहीं है।

पर भट्टिनी बोलीं : तू तो उन्मत्त हो गई है। समझती नहीं। बुराई ऐसे ही तो बढ़ती जाती है। मैं कहती हूं, तू अभी जाकर इसे लौटा आ।

मैं क्या करती ! कहा : अच्छी बात है भट्टिनी। जाती हूं।

जाने को हुई तो देवी ने कहा : सुन तो ! तू जा रही है ! अरी इधर तो आ ज़रा ।

जाने उनके मन में क्या था । मैं उनके पास लौटी तो बोलीं : क्यों री ! मैं पहनूं इसे ! देखूं तो मुझे कैसा लगेगा यह वल्कल !

मैंने कहा : भट्टिनी ! आप सुन्दर हैं, और जो सुन्दर है वह तो कुछ भी पहन ले, सब कुछ उसपर अच्छा लगेगा ।

अपनी ओर से मैंने फिर कहा : भट्टिनी ! पहनकर तो देखिए !

भट्टिनी ने कहा : अच्छा तो ला !

उन्होंने उसे मेरे हाथ से ले लिया और पहना । बोलीं : अरी ! बता ! सच कहना, कैसा लगता है !

मैंने देखा । सचमुच मैं तो देखती ही रह गई । कह उठी : बहुत अच्छा लगता है, भट्टिनी ! ऐसा लगता है अब, जैसे वह वल्कल सुवर्ण का बना हो !

किन्तु भट्टिनी को इतने से ही संतोष न हो सका । चेटी से बोलीं : हञ्जे ! तुम क्यों नहीं बोलती ? ऐसी चुप खड़ी हो ?

चेटी बोली : बोलूं भी क्या ? मेरा तो रोआं-रोआं यह देखकर पुलक उठा है ।

हमने देखा । वह ठीक कहती थी ।

भट्टिनी ने कहा : सखी ! दर्पण तो ला । देखूं तनिक !

चेटी चली गई और दर्पण ले आई । भट्टिनी ने एक बार उसमें देखा और बोलीं—रहने दे सखी ! पर तू क्या कुछ कहना चाहती थी ?

चेटी बोली : भट्टिनी ! मैंने तो ऐसा सुना था । आर्य बालाकि

कञ्चुकी हैं न ? कह रहे थे कि राजतिलक है, राजतिलक है····

वह मुस्करा दी। भट्टिनी ने कहा : होगा री। किसीका होगा।

उसी समय दूसरी एक चेटी और आ गई, बड़ी स्फुरित थी। बोली : भट्टिनी ! अच्छी खबर लाई हूं, अच्छी खबर !

भट्टिनी ने कहा : अरी, तो बोलती क्यों नहीं ? कह दे न ?

दूसरी चेटी ने कहा : राजकुमार का राजतिलक हो रहा है !

मैं एकदम खुश हो गई। किन्तु भट्टिनी में ऐसा नहीं दीखा। बोलीं—पिता तो सकुशल हैं।

मैं उनके गौरव से अभिभूत हो गई। परन्तु राजन्यों में एक के दुःख पर ही दूसरे का सुख खड़ा होता है। राजन्यों में ही क्यों ? लोक में सर्वत्र यही तो नियम है।

दूसरी चेटी ने कहा : महाराज तो सकुशल हैं भट्टिनी !

भट्टिनी के मुख पर आनन्द की लहर दौड़ गई। बोलीं : तब तो तूने मुझे दुहरी खुशखबरी सुनाई। फैला दे अपना आंचल।

दूसरी चेटी ने तुरन्त ही तो फैला दिया। भट्टिनी ने उसमें आभूषण उतारकर डाल दिए।

उस समय वाद्य-ध्वनि आने लगी। किन्तु जाने क्यों सहसा ही उनका बजना बंद हो गया।

भट्टिनी के मुख पर एक आशंका-सी खेल गई। अचानक ही कह उठीं : बाजे बन्द हो गए। क्या अभिषेक में कोई विघ्न आ गया ?

फिर सोचकर कहा : राजकुल में क्या होता है, क्या नहीं, इसको कोई बता सकता है ?

कितनी थी मन में शंका। फिर भी कैसी थी वह अवरुद्ध मर्यादा!

दूसरी चेटी ने कहा : भट्टिनी! मैंने तो सुना है कि राजकुमार का अभिषेक कराके महाराज वन चले जाएंगे।

भट्टिनी ने कहा : यदि ऐसा है तो फिर यह अभिषेक का पानी आंसू धोने के लिए ही तो रह जाएगा।

वे महाराज के प्रति कितना आदर और सम्मान रखती थीं!

मैंने देखा। युवराज राम आ रहे थे।

धीर था वह युवक! उसके अभिषेक की तैयारियां हुई थीं, बाजे बजने लगे थे। गुरुजन आ गए थे, उन्हें सिंहासन पर बिठा दिया गया था, मंगलमय तीर्थजलों से पूर्ण घटों को उठा-उठाकर उन्हें नहलाया गया था। इतना सब हो जाने पर भी वे अभिषिक्त नहीं हुए थे। उन्हें महाराज ने बुलाकर विदा दे दी थी।'

कहते-कहते अवदातिका जैसे उच्छ्वसित हो उठी।

मैंने कहा : 'अवदातिके! फिर क्या हुआ जो तुम ऐसी करुण हो उठी हो?'

अवदातिका ने आंसू पोंछ लिए और कहा : 'नहीं। मैं तो यह सोचने लगी थी कि इनका मन कैसा दृढ़ था। महाराज ने अभिषेक रोक दिया, किन्तु वे तो विचलित नहीं हुए। पिता की आज्ञा थी, उसे पुत्र ने मान लिया, इसलिए वे अपने महान कार्यों की महानता को भी कोई महत्त्व नहीं दे रहे थे। उन्हें तो ऐसा लगा जैसे सिर पर से कोई बोझ उतर गया। वे छुटकारे की सांसें ले रहे थे। जानते हैं क्यों? क्योंकि वे वही राम बने रहे जैसे पहले थे। पिता पिता ही बने रहे।

और अब वे सीता से मिलने आ रहे थे !

मैंने कहा : भट्टिनी ! राजकुमार आ रहे हैं ! और आपने अभी तक वल्कल भी नहीं उतारा ?

भट्टिनी उसे उतार भी नहीं सकीं। राजकुमार आ पहुंचे। भट्टिनी ने कहा : आर्यपुत्र की जय हो !

राम बैठे। भट्टिनी भी।

मैंने सोचा। राजकुमार का वेश तो अभी नहीं बदला था। शायद वह बात झूठी थी।

परंतु भट्टिनी ने ऐसा नहीं समझा। राजकुल में कितनी तरह की बातें नहीं होतीं !

तब राम ने बताया कि उनका अभिषेक हुआ था। जिस समय शत्रुघ्न और लक्ष्मण ने तीर्थजल का घड़ा थामा, महाराज ने छत्र उठाया। उनके नयनों से सुख के आंसू गिर रहे थे। ठीक उसी समय हांफती हुई मंथरा आ गई। न जाने उसने महाराज के कानों में क्या कुछ कहा कि अभिषेक रुक गया।

मैं समझी थी कि भट्टिनी यह सुनकर उत्सुक होंगी या क्रुद्ध हो उठेंगी। लेकिन जैसे उनपर कुछ प्रभाव ही नहीं पड़ा। बोलीं : चलो अच्छा हुआ, महाराज महाराज ही रहे और आर्यपुत्र आर्यपुत्र ही बने रहे।

राजकुमार को जैसे सहसा ध्यान आया। बोले : सीते ! तुम्हारे गहने कहां गए ?

भट्टिनी ने तो चेटी को प्रसन्नता से दे ही दिए थे। बोलीं : नहीं, नहीं, पहने ही तो हूं।

पर शायद तुमने अभी-अभी उतारे हैं, राजकुमार ने मुस्कराकर कहा। देखो न ! पर तुमने तो वल्कल पहन रखा है। या ये सूर्य की किरणें हैं ? अरे तुम तो हंस रही हो !

भट्टिनी को हंसी आ गई थी।

राजकुमार को कौतूहल हुआ। बोले : ठीक-ठीक बताओ। यह तपस्वियों के वस्त्र तुमने हंसी-हंसी में क्यों पहने हैं ? या अब तपस्या करने जाना चाहती हो।

फिर वे मुझसे बोले : अवदातिके ! तू बता, क्या बात है ?

मैंने भट्टिनी की ओर देखा और कहा : कुछ नहीं। यों ही पहन लिए हैं। देखना चाहती थी कि अच्छे लगते हैं या नहीं !

राजकुमार ने कहा : यह बात है ? तो तुमने इसी आयु पर वे वस्त्र पहन डाले जिन्हें इक्ष्वाकु कुल में बूढ़े पहनते हैं। लाओ, मुझे भी तो दो !

—आप क्या करेंगे ?—भट्टिनी ने पूछा।

—मैं भी पहनकर देखना चाहता हूं।

मैं, अवदातिका देखती रही। भट्टिनी के मुख पर कुछ व्यथा झलक आई। पुरुष अविचलित था। उसको देखकर स्त्री भी शांत बनी रही थी। किन्तु अभिषेक रुक जाने की एक विषादिनी छाया काजर की लीक-सी मैथिली सीता के मानस पर जाने कहां लग गई थी कि वे कह उठीं—नहीं आर्यपुत्र ! आप ऐसे अमंगल की बात मुंह से न निकालें।

राम नहीं समझे। बोले : तुम मुझे क्यों रोकती हो मैथिली !

भट्टिनी ने कहा—आपका अभिषेक अभी-अभी ही तो होते-होते

रुक गया है। इसीलिए जब आप वल्कल पहनने की बात करते हैं तो मुझे कुछ बुरा-बुरा-सा लगता है।

राम ने कहा : तुम भी मैथिली !! विनोद में भी अमंगल की कल्पना करती हो ! तुम मेरी अर्धांगिनी ठहरीं। जब तुमने पहन लिया वल्कल तो समझ लो कि मैं भी पहन चुका !

मैं अवदातिका क्या कर बैठी ! मेरा एक परिहास इतना भयानक सत्य बन जाएगा, यह मैं तब क्या जानती थी ?

नेपथ्य में कोई पुकार रहा था—हाय ! हाय ! महाराज !

भट्टिनी चौंक उठीं। बोलीं : क्या हुआ आर्यपुत्र !

राम सुनते रहे। मैंने देखा वे गंभीर और दृढ़ हो उठे। कहा : इतने स्त्री-पुरुषों का कोलाहल, हाहाकार ! लगता है काल ने अपनी सामर्थ्य का नया रूप दिखाया है। वह सबपर शासन करता है। क्या जाने उसने किस मूल पर प्रहार किया है इस बार !

यह जैसे उन्होंने अपने आपसे कहा। फिर आज्ञा दी—इस कोलाहल के कारण का शीघ्र पता लगाओ।

किन्तु किसीके जाने की आवश्यकता नहीं पड़ी। हम सब स्तब्ध रह गईं। कञ्चुकी आ गए। पुकार उठे—कुमार ! रक्षा करें, रक्षा करें।

राजकुमार ने धैर्य से कहा : किसकी रक्षा आर्य ? क्या हुआ ?

—महाराज की रक्षा।

—तब तो सारी पृथ्वी की रक्षा का प्रश्न आ गया, क्योंकि राजा के शरीर में तो पृथ्वी की रक्षा बनी हुई है। पर उन्हें किसने सताया है ?

कञ्चुकी ने कहा : बाहर से नहीं आया कोई राजकुमार। शत्रु घर का है।

मैं सोचने लगी। भट्टिनी की शंका की जड़ कहां थी। वे तो पहले ही आशंका कर रही थीं।

राजकुमार ने कहा : घर का शत्रु ! आर्य, फिर मैं क्या कर सकता हूं ? बाहर का शत्रु तो केवल देह को कष्ट देता है, लेकिन अपने लोग तो मन को दु:ख देते हैं। कौन है वह ? किसकी याद करके मुझे लज्जा करने को विवश होना पड़ेगा ?

कञ्चुकी ने कहा : महारानी कैकेयी की।

राजकुमार चौंक उठे। बोले : माता की !

'माता' शब्द उनके मुख से गूंज उठा। मैंने सुना, जैसे स्वर में वेदना थी।

बोले : नहीं कञ्चुकी ! ऐसा नहीं होगा। इसमें अवश्य कोई रहस्य है। वे मां हैं मेरी। उन्होंने कुछ अवश्य ऐसा सोचा होगा, जिससे अंत में मेरी ही भलाई होगी।

कञ्चुकी ने कहा : नहीं राजकुमार।

किन्तु युवराज ने कहा : कंचुकी ! मेरे पिता इन्द्र के समान पराक्रमी हैं। वे उनके पति हैं। मैं उनका पुत्र हूं। फिर उन्हें और कामना हो भी क्या सकती है ? वे कोई बुरा काम करने भी क्यों लगे !'

अवदातिका यह कहकर सिसकने लगी। सामने के वृक्षों के पं ि

किसीकी पगचाप सुनाई दी ।

अवदातिका ने देखा तो सादर खड़ी हो गई और दोनों हाथ माथे पर जोड़कर कहा : 'आएं आर्य !'

मैंने मुड़कर देखा । वृद्ध देह । शिर के केश श्वेत । धोती पहने थे । गोरा रंग था । कमर पर पट्ट बांधे थे और कंधों पर उत्तरीय था । सात्त्विकता उनके चारों ओर जैसे फूटी पड़ रही थी ।

'अवदातिके !' वृद्ध ने कहा : 'क्यों रोती है वत्से !'

'आर्य !' अवदातिका ने कहा : 'आप नहीं देखते ? यह युवराज कितने विशाल हृदय का व्यक्ति है !'

वे पास आ गए । उनके हाथ में मैंने देखा भूर्जपत्रों वाली कुछ किताबें थीं । उनपर दोनों ओर लगे काठ पर चित्र बने हुए थे ।

वृद्ध के निकट आने पर अवदातिका ने उनके चरण छुए और वृद्ध के बैठने पर भी खड़ी रही ।

वृद्ध ने धीरे से कहा : 'बैठो वत्से !'

फिर जैसे उनका ध्यान मेरी तरफ गया । बोले : 'युवक ! कौन हैं अवदातिका ?'

'यात्री हैं ।' अवदातिका ने बैठकर कहा ।

वृद्ध ने मुस्कराकर कहा : 'तुम तो सचमुच अवदातिका हो गई । मैं तुम्हारे लिए एक और काम लाया हूं ।'

'कहें आर्य !' अवदातिका ने उत्सुकता से कहा । फिर मुझसे मुड़कर कहा : 'जानते हैं इन्हें ? महाकवि भास !'

भास ! मैं तो जहां का तहां रह गया । मैंने प्रणाम करके कहा : 'आर्य ! आपके दर्शन हुए । मैं धन्य हुआ । बहुत दिनों से एक बार

देख लेना चाहता था। आज वह दिन आया।'

महाकवि ने धीरे से मुस्कराकर कहा : 'मैंने अवदातिका को यहां आने को कहा था। पर तुम लोग व्यस्त हो। अवदातिका समझदार है। आज असल में मेरे मित्र सौमिल्ल आनेवाले थे। जानते हो उन्हें ?'

मैंने कहा : 'नाम तो सुना है उनका कि वे नाटक रचते हैं, पर कभी दर्शन नहीं किए।'

'किसी दिन करा दूंगा।' वृद्ध ने स्नेह से कहा। फिर मुड़कर बोले : 'अवदातिके ! क्या कह रही थी !'

अवदातिका ने कहा : 'मैं वही कह रही थी आर्य ! कि राम को यह विश्वास ही नहीं हुआ कि कैकेयी उनका कुछ बुरा भी कर सकेंगी। उन्हें इसकी कल्पना भी नहीं हुई !'

वे गद्‌गद हो गए। बोले : 'सचमुच ! वह कैसा मनुष्य था। मैं तो उसे देखकर ही विमुग्ध हो गया।'

अवदातिका ने कहा : 'कंचुकी कहता रहा कि नारी की बुद्धि तो स्वभावतः ही मारी गई होती है। आप अपने भलेपन के कारण उसे भी सीधा समझ रहे हैं, आप नहीं जानते उसीने आपका अभिषेक रोक दिया है।'

वृद्ध ने कहा : 'वे तो उल्टे अच्छाइयां निकालने लगे अवदातिके ! बोले—चलो अच्छा हुआ। पिता अब वन तो नहीं जाएंगे। मैं पिता की छत्रछाया में बालक की तरह रह सकंगा। कंचुकी ! राजा नया होता है तो प्रजा शंका करती है कि नया राजा जाने कैसा होगा। अब प्रजा का भी उस आशंका से पिंड छूट गया। मेरे भाई भी राज्य के सुखों का उपभोग करने से वंचित नहीं हुए।'

वृद्ध फिर बोले : 'लेकिन कंचुकी नहीं माना। बोला—कैकेयी नहीं मानी। बिना बुलाए ही राजा के पास चली गई और बोली कि भरत को ही राजतिलक दे दो। युवराज ने कहा कि नहीं कंचुकी! आप हमारी ओर पक्षपात किए हैं, तभी वास्तविकता को नहीं देख रहे हैं। मैं मां की निंदा नहीं सुनना चाहता। मुझे तो पिता के बारे में बताइए। कंचुकी ने कहा : पीड़ा असह्य हो जाने से वे मूर्च्छित हो गए हैं।'

वृद्ध चुप हो गए।

मैंने करुण क्रंदन सुना। मुड़कर देखा तो अवदातिका चौंक गई थी। कोई चिल्लाकर कह रहा था : मूर्च्छित हो गए! और आप पूछ रहे हैं! यदि आप इसे नहीं सह सकते तो धनुष उठाइए! यह कोई दया का समय नहीं है।

आवाज़ आई : तुम समुद्र की भांति गम्भीर थे लक्ष्मण! तुम्हें किसने उभाड़ दिया!

अवदातिका ने कहा : 'सुन रहे हैं आर्य!'

भास ने कहा : 'लक्ष्मण है। उसे क्रोध आ गया है। तुम अपनी बात कहो अवदातिके।'

अवदातिका ने आंसू पोंछकर कहा : 'आर्य! लक्ष्मण ने कहा कि हे राम! यदि आप स्वजनों पर हाथ नहीं उठा सकते तो मुझे छोड़ दें। वह युवती अपने स्वामी को मुट्ठी में करके, हम सभी को छल से परास्त कर रही है! मैं समस्त सृष्टि से युवतियों को नष्ट कर दूंगा।

भट्टिनी ने कहा : आर्यपुत्र! रोने के समय लक्ष्मण धनुष उठा रहे हैं! इतने विक्षुब्ध ये कैसे हो गए?

किंतु लक्ष्मण पुकार उठे : अब क्या पूछते हो मुझसे। वंश-परम्परा से प्राप्त राज्य छिन चुका है। महाराज मूच्छित होकर भूमि पर पड़े हैं। अब आत्मगौरव से शून्य हो जाना तो क्षमा नहीं कहला सकता ?

युवराज ने धैर्य से कहा : शांत हो जाओ सुमित्रानन्दन ! मुझसे राज्य छिन गया है तो तुम इतने अधीर क्यों हो ? इतनी उत्तेजना किसलिए ? राम को राज्य मिले, या भरत को। तुम्हारे लिए तो दोनों ही बातें एक-सी हैं। तुम पिता पर धनुष उठाओगे, जोकि अपनी प्रतिज्ञा का पालन कर रहे हैं ! या माता पर प्रहार करोगे जोकि पुरानी प्रतिज्ञा के अनुसार अपना विवाह-शुल्क मांग रही हैं। भरत तो निर्दोष है। बोलो ! किसे मारोगे ? मां को, या पिता को, या भाई को ? तुम्हारा क्रोध, कौन-सा पाप करना चाहता है ! राज्य के लिए क्या चाहते हो तुम ?

लक्ष्मण सह नहीं सके। वे रो पड़े। बोले : मुझे राज्य की बात तो याद भी नहीं रही। आप बिना जाने मुझपर उलाहना डाल रहे हैं ! मैं राज्य के लिए नहीं कहता। मुझे तो क्रोध इसलिए आ गया कि आपको चौदह वर्ष का वनवास दिया गया है।

मैंने सुना। मैं समझी कि राम और सीता कांप उठेंगे। क्योंकि मैं तो सुनते ही थर्रा उठी। पर जैसा पुरुष था, वैसी ही वह स्त्री थी। राम ने कहा : बस इसी बात पर महाराज मूच्छित हो गए। इसमें तो ऐसी कोई बात नहीं थी। लक्ष्मण ! महाराज, इतने अधीर क्यों हो गए !

फिर मुड़कर राम ने कहा : मैथिली ! अवदातिका जो वल्कल

लाई थी, वह मुझे दे दो। जो आज तक किसी राजा का धर्म नहीं रहा, वह आज मेरा हो।

और वज्रहृदया भट्टिनी ने कहा : लीजिए आर्य ! मैं तो आपकी सहधर्मिणी हूं ही।

—मुझे तो अकेले वन जाना है ?

—तभी तो मुझे साथ चलना होगा।

—सीते ! वह वन है, वन !

—हां स्वामी ! मेरे लिए वही महल है।

मैंने देखा तो मन ही मन प्रणाम किया भट्टिनी के धैर्य को।

राम ने लक्ष्मण से कहा कि वे सीता को समझाकर रोकें। किन्तु वे बोले : भाई ! राहुग्रहण के अवसर पर भी रोहिणी चन्द्रमा का साथ देती है, वृक्ष कटकर नीचे गिर जाता है तब भी उसकी लता उससे लिपटी ही रहती है, गजराज कीचड़ में गिर जाता है, तब भी उसकी हथिनियां उसका साथ नहीं छोड़तीं। तो फिर भाभी को ही मैं क्यों रोकूं ! उन्हें भी अपना धर्म निबाहने दो। स्त्रियों के तो पति ही सहारे होते हैं।

उसी समय एक चेटी आई। बोली : भट्टिनी की जय हो। नेपथ्य पालिका आर्य रेवा ने प्रणाम करके निवेदन किया है कि अवदातिका संगीतशाला से कुछ वल्कल अपने आप उठा लाई है। शायद आपने मंगवाए हों ? या शायद वे पुराने हों; यह सोचकर उन्होंने आपके लिए ये नये वल्कल भिजवाए हैं।

मैं, अवदातिका, तो एकदम जड़ीभूत-सी रह गई। हाय मेरा मज़ाक कहां से कहां जा पहुंचा। आर्य रेवा ने भी क्या किया !

कितना बड़ा व्यंग्य बन गया मेरा उपहास !

युवराज बोले : लाओ भद्रे ! अच्छे लाईं । इन्हें तो जरूरत नहीं, मुझे है ।

मैंने आंखें ढंक लीं ।

लक्ष्मण का स्वर सुनाई दिया—आर्य प्रसन्न हों । आज तक आपने मुझे सभी तरह के वस्त्र दिए हैं, आभूषण दिए हैं, मालाएं दी हैं । आज तक तो सदैव जो कुछ लिया है, उसमें से मुझे भी देते रहे हैं । आज ऐसा क्या लोभ आपपर छा गया कि इस वल्कल को अकेले लिए ले रहे हैं ।

राम ने सीता से कहा : सुनती हो ? इसे तो रोक दो ।

पर लक्ष्मण ने कहा : आर्ये ! आप इनके दाएं चरण की सेवा करें । मुझे क्या बायां भी न देंगी ?

सीता ने क्या कहा, जानते हैं ? बोलीं : नहीं आर्य पुत्र ! आप दया करें । रोकने से लक्ष्मण को कष्ट होता है ।

उस समय राजमार्ग पर भीड़ हो गई थी ।

और वे वन चले गए ।'

अवदातिका के नेत्र आंसुओं से भर गए । बोली : 'वे चले गए । मैंने क्या कर डाला !'

महाकवि भास ने कहा : 'वत्से ! रो मत ! तूने तो और कुछ नहीं देखा । मैंने देखा था गौरव । मैंने देखी थी वेदना । समुद्र-सी अथाह, पर्वत-सी महान, आकाश-सी व्यापक ! सब कुछ मनुष्य की एक मुस्कान में, एक आंसू में ।'

मैंने कहा : 'फिर क्या हुआ महाकवि !'

वे कुछ चिंता-मग्न हो गए और कहने लगे :

' प्रतिज्ञापालक महाराज दशरथ राम को वन जाने से लौटा नहीं सके। वे पुत्रवियोग की ज्वाला से संतप्तहृदय होकर पागल की भांति प्रलाप करते समुद्रगृह में पड़े हुए, युगांत समीप आने पर डगमगाते सुमेरु की भांति, या मण्डलमात्र लक्ष्य सूर्य के समान अपार शोक-सागर में निमग्न दुर्बल काम-चेतनाहीन होते चले गए।

सारी अयोध्या सूनी हो गई। गजराजों ने चारा खाना छोड़ दिया। रोते-रोते घोड़ों ने हिनहिनाना बंद कर दिया। नगरवासी, बूढ़े, बच्चे, युवक और स्त्रियां, सबने खाना-पीना छोड़ दिया। और ऊंचे स्वर से रोने के कारण उनके मुख उदास हो गए।

सूर्य की भांति राम चला गया, सूर्य के पीछे दिन की तरह लक्ष्मण भी चला गया और उन दोनों के चले जाने पर छाया की तरह सीता भी दिखाई देना बंद हो गई। राजा दशरथ रोते थे। कहते थे कि हे विधाता, तूने मुझे निस्संतान क्यों नहीं बनाया ? राम को किसी दूसरे का पुत्र क्यों नहीं बना दिया और कैकेयी को वन में बाघिन क्यों नहीं बना दिया ? '

महाकवि का गला रुंध गया।

अवदातिका देखती रही।

महाकवि के शांत होने पर बोली : 'महाकवि ! तुम बड़े निर्दय हो !'

'क्यों ?' उन्होंने आश्चर्य से कहा।

अवदातिका ने कहा : 'जब भट्टिनी सीता वनवास को चलीं, तब तुमने मुझे उनसे मिलकर रोने क्यों नहीं दिया ? क्या मेरे

हृदय नहीं था ? या तुमने मुझ अनुचरी जानकर इतना महत्त्व देने की आवश्यकता नहीं समझी ? जब सारी अयोध्या का हाहाकार दिखाना तुम न भूले, तब मेरा हाहाकार तुमने मुझे क्यों न सुनाने दिया। निर्दय ! तुमने मुझे रोक दिया ! तुम क्यों मुझे महाराज दशरथ के पास नहीं रख सकते थे ? क्या मैं उनकी सेवा नहीं कर सकती थी ? क्या तुम मुझे माता कौशल्या के पास नहीं रख सकते थे ? वह कैसी धीर नारी थी, जिसने पुत्र का वियोग सह लिया, लेकिन पति को धैर्य बंधाती रही—उस पति को जिसकी आज्ञा से उसका पुत्र वन को भेज दिया गया था ! उस अभागिनी ने कभी भी कैकयी की निंदा नहीं की। यदि तुम मुझे उसके पास छोड़ देते तो क्या मैं पवित्र न हो जाती ? महाकवि ! तुमने मुझे सुमित्रा की सेवा में ही छोड़ा होता जो उस धीरव्रती लक्ष्मण की माता थी ! महाकवि ! तुमने मुझे कहीं का नहीं रखा !'

महाकवि ने कहा : 'वत्से ! तू इतनी पीड़ा कैसे सह पाती ! मैं ही नहीं सह सका !'

मैं अब हृदय में विह्वल हो चुका था। मैंने कहा : 'महाकवि ! अवदातिका का हृदय शायद सचमुच न सह पाता।'

अवदातिका ने कहा : 'आप आगे कहें कविराज ! मैं सुनती हूं।'

महाकवि ने कहा : 'तो जब भरत को बुलाया गया तो उन्हें किसीने भी नहीं बताया कि पिता मर चुके थे। वे अयोध्या के पास पहुंचे तो उन्हें एक देवमंदिर दिखाई दिया। वे उसमें देवदर्शन करने बढ़े। वहां इक्ष्वाकुवंशीय राजाओं की प्रतिमाएं थीं। वे सब मर चुके थे। इस प्रकार भरत को वहीं ज्ञात हुआ कि उनके पिता मर

चुके थे ।'

मैंने कहा : 'महाकवि !'

'क्यों, क्या हुआ ?'

'आपके समय में······।'

'हां, हां, कहो······।'

'प्रतिमा······।'

'क्यों ? स्पष्ट कहो !'

'क्या तब देवमंदिरों में प्रतिमाएं होती थीं ?'

'क्यों नहीं होती थीं ?'

'क्षत्रिय राजाओं की भी प्रतिमाएं बनती थीं ?'

'हां, हां !'

'पर लोग तो कहते हैं कि नहीं थीं ।'

'कौन मूर्ख कहता है ?' वे अप्रसन्न-से बोले ।

'सम्राट् अशोक·······।'

'कौन अशोक ?' वे चौंककर बोले ।

'सम्राट् चन्द्रगुप्त के पौत्र······।'

'अच्छा ! किनके ? मैं उन्हें नहीं जानता । मैं तो उनसे पहले के समय में था······तब मैं वृद्ध हो चला था, जब भरत तरुण था । वह कहा करता था कि उसकी एक नाट्यशास्त्र लिखने की बड़ी इच्छा थी । पता नहीं उसने लिखा भी या नहीं ?'

'लिखा महाकवि !' मैंने कहा : 'बहुत खूब लिखा । तो क्या आपके समय में यवन-सम्राट् सिकंदर ने आक्रमण कर दिया था ?'

'कौन यवन-सम्राट् !' भास ने कहा ।

'तो क्या आपके सामने यवन नहीं थे ?'

'यवन क्यों नहीं थे ? गांधीर, वाल्हीक, कपिशा और उद्यान के परे रहते थे। आर्यावर्त में कोई-कोई आता था। महर्षि पाणिनि थे एक, बहुत पहले मुझसे, होंगे तीन सौ एक वर्ष पूर्व, उन्होंने भी यवनों को देखा था।'

मैंने कहा : 'तो आर्य ! क्या आपके समय में रंगमंच होते थे ?'

'क्यों नहीं होते थे !' उन्होंने कहा। फिर बोले : 'अवदातिके ! यह कौन मूर्ख है ?'

मैंने कहा : 'महाकवि क्रुद्ध न हों।'

'क्रुद्ध न होऊं ?' महाकवि ने कहा : 'थोड़ी देर में तुम पूछने लगोगे कि तुम्हारे समय में मनुष्य होते थे या नहीं ?'

अवदातिका हंस पड़ी।

मैंने कहा : 'महाकवि, अप्रसन्न न हों। परन्तु प्रतिमागृह में ले जाने की आवश्यकता क्यों पड़ी ?'

महाकवि ने धीरे से कहा : 'वत्स ! नाटक की रचना सहज नहीं है। हर बात को कौशल से करना पड़ता है। जब यह सब जानते ही थे कि महाराज दशरथ मर चुके थे तब क्या मैं उसे अकलात्मक ढंग से सूचना के रूप में प्रस्तुत करता ?'

यह कहकर वे फिर भावमग्न हो गए। बोले : 'वहीं तीनों रानियां आईं। भरत ने मूर्च्छा से उठकर देखा तो चिल्ला उठे कैकेयी को देखकर, ओ पापिनी ! तुम माता कौशल्या और माता सुमित्रा के बीच ऐसी ही दिखाई देती हो जैसे गंगा-यमुना के बीच कोई बुरी नदी घुस आई हो।'

वे कुछ सोचने लगे, फिर बोले : 'भरत ने कैकेयी को बहुत डांटा। किन्तु मैंने ऐसा नहीं होने दिया। अन्त में मुझे कैकेयी के प्रति दया आ गई। इतना बड़ा पाप मैं एक माता पर कैसे छोड़ देता ! तब मैंने कहलवाया कि देवताओं की इच्छा यही थी। एक समय महाराज दशरथ ने एक मुनिपुत्र श्रवण की हत्या की थी भूल से। उसीके कारण उन्हें पुत्रवियोग का शाप मिला था। मैंने कैकेयी को उसकी निमित्त साधिका बना दिया। इस प्रकार उसका शाप घटा दिया।'

मैंने कहा, 'आपने वाल्मीकि को अपना आधार नहीं बनाया ? उन्होंने इतनी विशाल रामायण...'

'फिर बकने लगे !' भास ने मुझे घूरकर कहा, 'कैसी विशाल रामायण ? उनका छोटा-सा काव्य था। परन्तु था आदिकाव्य !' उन्होंने प्रशंसा से सिर हिलाया। 'धन्य थे वाल्मीकि भी।' फिर कहा : 'उनकी कथा को व्यास लोग चौराहों पर गा-गाकर सुनाते थे। परन्तु मैंने उस कथा के अन्य प्रचलित रूपों को भी एकत्र किया था। कुछ भी हो, कथा महान् थी। राम जैसे महापुरुष, सीता जैसी त्यागिनी, भरत जैसे तपस्वी, कौशल्या और सुमित्रा जैसी महानहृदया माताएं, क्या नहीं था ! जिस समय रावण संन्यासी रूप में राम के आश्रम में पहुंचा, राम ने प्रणाम किया। उसे बिठाया। सीता से जल मंगाया कि पांव धोएं। परन्तु रावण में साहस नहीं हुआ कि पांव धुलवा ले। उसने अपना परिचय दिया—मेरा गोत्र काश्यप है। मैंने सांगोपांग वेद, मानवीय धर्मशास्त्र, माहेश्वर योगशास्त्र, बृहस्पति अर्थशास्त्र, मेधातिथि के न्यायशास्त्र और प्रचेता श्राद्धकल्प का अध्ययन किया है।'

मैंने कहा : 'आर्य ! कौटिल्य का अर्थशास्त्र तब प्रसिद्ध नहीं था ?

कवि ने कहा : 'कौन कौटिल्य ?'

मैंने कहा : 'भूल हो गई। आप बताएं।'

कवि बोले : 'क्योंकि उस समय राम को पिता का श्राद्ध करना था, उन्होंने श्राद्धकल्प के बारे में विशेषतया पूछा। रावण ने कहा कि घासों में कुश, ओषधियों में तिल, मछलियों में महाशफर, पक्षियों में वार्ध्रीणस और पशुओं में गाय या गेंडा, मनुष्यों के लिए यही उचित हैं। और वैसे हिमालय पर सोने के हिरन रहते हैं, जिनके मांस को वैखानस, बालखिल्य, नैमिषादि ऋषि अपने पितरों के श्राद्ध में अर्पित करते हैं। उनके अर्पण से फिर आवागमन भी नहीं होता। राम ने यह सुन हिमालय जाने का निर्णय कर लिया। किन्तु तभी रावण ने माया से वहीं स्वर्ण-मृग प्रकट किया। उस समय लक्ष्मण तो तीर्थ-यात्रा से लौटते दस हज़ार मुनियों को भोजन देकर पालन करनेवाले कुलपति की अगवानी करने गए थे। अतः राम उस स्वर्ण-मृग के पीछे चल दिए। उनका पराक्रमी रूप देखकर रावण भी प्रभावित हो गया। तभी उनके जाने पर वह सीता का हरण कर ले चला। जानते हो वह रावण कौन था ?' महाकवि ने कहा, 'उसने इन्द्र को हराया था। कुबेर को हिला दिया था, सोमो को कुचला था, और स्वयं यम को मर्दित किया था। उसने उसे पकड़ लिया और ले चला। मार्ग में जटायु ने भयानक संग्राम किया, किन्तु वह मारा गया। जब यह संवाद अयोध्या पहुंचा तो भरत मूर्च्छित हो गए। उन्हें सुग्रीव-मित्रता की बात पता चली। तब वे सेना लेकर रावण से लड़ने को उठ पड़े। किन्तु तभी संवाद आया कि राम विजयी होकर लौट रहे हैं।'

'अब तो मैं बिलकुल नहीं सुनूंगी,' अवदातिका ने कहा, 'आपने

मुझे कुछ भी नहीं दिया। अन्त में तो कम से कम मुझे रखा होता, उस समय मैं वल्कल तो उतरवाती !'

महाकवि ने मुझसे कहा : 'सुनते हो इस पगली की बात ?'

वे उठ खड़े हुए। बोले : 'मुझे आवश्यक कार्य है। अब मैं विदा लेता हूं।'

अवदातिका विषण्ण-सी बैठी रही। महाकवि चले गए।

अवदातिका ने कहा : 'तुम भी कविता लिखते हो ?'

'हां लिखता हूं।'

'नाटक ?'

'हां।'

'तुम क्यों नहीं राम-कथा पर कुछ लिखते ? मुझे अवसर दो न ?

मैंने कहा : 'मुझे कुछ ही बातें उस कथा में बहुत भाती हैं।'

'क्या-क्या ?'

'एक तो मैं वह दृश्य सोचता हूं जब राम ने समुद्र-शासन किया था !'

'वह नाटक कैसे बन सकता है ?'

'नहीं बन सकता।'

'तो फिर ?'

'मैं चुप रहा। अवदातिका उठ खड़ी हुई। बोली : 'तो मैं जाती हूं।'

मैं कुछ नहीं कह सका। वह चली गई।

मैं अकेला रह गया। अभी मैं देख ही रहा था कि आकाश कांपने लगा। हवा हिलने लगी। ऐसा लगा जैसे अंधकार छा गया और

भयानक कोलाहल उठने लगा।

मैं आतंक से थर्रा गया।

देखता क्या हूं कि दो विशाल गृद्ध आकाश में उड़े जा रहे हैं।

उनके पंख योजनों दूर तक छाया डाल रहे थे। किनारे के पुच्छ सुनहले से जगमगा रहे थे। ऐसा लगता था जैसे भयानक आंधियां चल रही थीं। उनके पंखों के चलने से पृथ्वी पर ऐसा अंधेरा-सा छा जाता था कि मुझे कभी-कभी अनंत आकाश के नक्षत्र दिखाई दे जाते थे। पर्वत डगमग-डगमग कर रहे थे और महासमुद्र ऊभचूभ करते आलोड़ित-विलोड़ित हुए जा रहे थे। भीम वृक्ष अर्राते हुए लुढ़क रहे थे। उस घोर नाद के कारण मैं पृथ्वी पर गिरकर देखने लगा।

तब पुकार आई : 'जुटायु ! मैं सूर्य तक जा पहुंचूंगा।'

दूसरा गिद्ध चिल्लाया : 'मैं जाऊंगा भैया ! मैं सूर्य को छू लूंगा।'

दिशाएं चिल्ला रही थीं : महत्त्वाकांक्षा के पुतलो, अपनी सीमा को मत लांघो। तुम हंसों से भी ऊपर उड़ सकते हो, किन्तु ब्रह्मा की सृष्टि को लांघने का प्रयत्न मत करो।

हंसकर जटायु पुकारा : 'आः ! अब बंधनों की याद मत दिलाओ ! हमारे पंखों की इतनी सामर्थ्य देखकर भय से कांपो मत ! हम दिशा और काल को बांधने जा रहे हैं।'

सम्पाति गरजा, लगा प्रलय के मेघ गर्जन कर रहे थे।

बोला : 'अभी और ऊपर जाना है जटायु ! तू पहले पहुंचेगा कि मैं !'

दिगन्तों में गूंज उठी—'मैं······

मैं······गरजा महासागर······

मैं······चिंघाड़ उठे······पर्वत······

दिगन्तों में ललकार उठी······मैं······'

और मैंने पृथ्वी पर कांपते-कांपते कहा : मैं !

'यह मैं !' मैं क्या था ! अहंकार ! यह अहंकार कहां जाकर थमना चाहता है।

जटायु हंसा तो आकाश के नक्षत्र थर्रा गए। बोला : 'भैया ! पृथ्वी कहां है ?'

संपाति ने कहा—'पता नहीं पीछे कहां छूट गई जटायु ! वे चाहते थे कि हम भी माटी के बंधनों में पड़े रहें।'

जटायु ने कहा : 'हम उस सीमा से बाहर आ गए हैं भैया। यहां देखो, इन्द्र भी नहीं पहुंच सकता। लोग उसे देवाधिदेव कहते हैं।'

जटायु हंसा। उस भीषण हास्य की प्रतिध्वनि से पर्वत दरकने लगे। जंगली हाथियों के दल के दल भागने लगे, जैसे चींटियां रेंग रही थीं।

'और वरुण,' संपाति ने गर्जन किया, 'अपने छोटे-छोटे से महा-सागरों को लेकर कैसा गर्वीला बना रहता है ! जटायु, ऊंचाई पर उठने से वह सब कितना छोटा लगता है !'

जटायु ने पंख और तेज़ी से चलाए।

संपाति ने कहा : 'ठहर साथ-साथ चल !'

'नहीं !' जटायु ने कहा, 'मैं ऊपर उड़ूंगा।'

'उड़ ! और मैं भी अब तुझसे पार हो जाऊंगा।'

जटायु चिल्लाया : 'संपाति भैया ! सूर्य अब कितनी दूर है !'

'क्यों ? अभी तो वह बहुत ऊपर है।'

'बड़ी भयानक गर्मी है। इस गर्मी में तो सारी पृथ्वी खौलने लगे।'

संपाति ने कहा : 'जटायु ! मेरे छोटे भैया ! तू क्या जल रहा है !'

'हां, भैया, लेकिन मैं जीतूंगा।'

'ठहर जा, मुझे आने दे !'

'नहीं भैया ! आज मैं ऊर्ध्वगति होकर महाशक्ति से विजय का वरण करूंगा। मैं देवताओं को पीछे छोड़ आया हूं।'

जटायु की देह से पानी गिरने लगा, जैसे किसी विशाल मेघ से धाराएं झर रही थीं।

संपाति ने पुकारा : 'यह पानी कैसा है जटायु ?'

'भैया ! यह मेरा पसीना है। यहां बहुत गर्मी है।'

तभी कोई भयानक स्वर से हंसा।

'लौट आ जटायु !' संपाति चिल्लाया।

'अब लौटने का क्या काम भैया !' जटायु ने फूत्कार किया।

सारे कोलाहलों से ऊपर अब एक भयानक हास्य फिर सुनाई दिया।

संपाति ने स्वर उठाकर पूछा : 'कौन हंसता है यह ?'

'मैं !' स्वर आया। 'जिसे तुम अपने पंखों और अपने अहंकार पर ढोकर यहां तक ले आए हो।'

'तुम कौन हो ?' संपाति ने पूछा। वह डर रहा था।

'मैं वह हूं, जिसके भय से सूर्य कांपता है। मैं मृत्यु हूं।' भयानक अट्टहास गूंजने लगा।

जटायु मूच्छित-सा था।

संपाति ने पुकारा : 'जटायु !'

वह उत्तर नहीं दे सका।

'जटायु !' उसने फिर पुकारा। छोटे भाई के अनिष्ट की कल्पना से जैसे वह कांप गया था। बोला : 'ओ मृत्यु ! उसे छोड़ दे।'

'छोड़ दूं ?' मृत्यु ने कहा, 'मैं उसे नहीं छोड़ूंगी। सूर्य की किरणों की मशालों से मैं इसे अब जलाऊंगी। देख, वह मूच्छित हो गया। अहंकारी !'

'वह नादान है।' संपाति ने करुण स्वर से पुकारा और वह एक भीम वेग से उठा और उसने मूच्छित होते हुए जटायु के ऊपर अपने विशाल पंख फैला दिए। छाया से जैसे जटायु की चेतना लौट आई। बोला : 'भैया ! तुम जीत गए ?'

उस समय संपाति के पंखों से आग निकलने लगी थी। उनसे निकले धुएं से आकाश काला हुआ जा रहा था। वह गर्मी से बेहोश हुआ जा रहा था। जटायु निर्बल-सा गिरने लगा था।

मृत्यु का बिकराल हास्य फिर गूंज उठा : 'संपाति ! अब और उड़ेगा ?'

जैसे अहंकार बौना हो गया था ! संपाति ने हांफकर कहा : 'इतने ऊपर भी तू रहती है अरे भयानक मृत्यु ! क्या तू जीवन के साथ सर्वत्र है ? फिर ऊंचाई और नीचाई का अर्थ ही क्या है ? तू कितनी विचित्र है ! जिस सूर्य की किरणों से तू उजाला करती है, उन्हींसे तू जला भी सकती है ? मैंने तो सूर्य को जीवन के प्रकाश का केन्द्र माना था। क्या हमारे लिए वही ठीक है, जो हमें दे दिया गया है ?

क्या उससे अधिक मांगना, हमारे अधिकारों के बाहर है ? क्या जिसे हम जीवन समझते हैं, वह केवल छल है। तू उसीमें से प्रगट हो जाती है री मृत्यु ! यह तो बता दे !'

मृत्यु ने कहा : 'तू अब बिलकुल थक गया है। किंतु तेरे अहंकार में भी एक श्रेष्ठता थी। वह यह कि तूने इस समय भी दूसरे को जलते देखकर उसपर अपने पंखों की छाया करके उसे बचाने में अपने को जला डाला। क्या अब तू कभी नहीं उड़ना चाहता ?'

संपाति ने कांपते स्वर से कहा : 'जटायु ! मेरा जटायु बच गया ?'

'हां, वह पृथ्वी पर पहुंच गया।'

'पर मैं उसे नीचे नहीं देखता।'

'तेरी आंखें चौंधिया गई हैं।'

'वह बच गया !' उसने तृप्ति से कहा, 'मृत्यु ! अब मुझे डर नहीं। पंखों की अब मुझे कोई चाह नहीं। पंखों का जो कुछ करना था, वह मैंने कर लिया। अब तो बिना पंखों के ही किसीका भला कर सकूं, यही वरदान दे।'

'अब सचमुच तू पंख नहीं चाहता ?'

'मेरा अहंकार नष्ट हो गया री मृत्यु ! मैंने पंखों की सीमा जान ली। मैं जिसे ऊंचाई समझता था, वह तो कुछ नहीं है। शून्य के बीच में कैसी ऊंचाई ! मुझे उस प्यारी धरती पर लौटा दे मृत्यु ! इस शून्य में सूर्यकिरणों की चिता में जलकर भी वह सुख नहीं मिलेगा, जितना उस धरती पर मरकर मिलेगा, जहां मेरे लिए किसीकी आंख से आंसू तो बहेगा !'

दूर, बहुत दूर, पृथ्वी पर से जटायु की आवाज सुनाई दी : 'भैया ! आओ ! पृथ्वी पर अंधेरा छा रहा है, अपने पंखों को बीच से हटा लो !'

संपाति चिल्लाया : 'तू पहुंच गया नादान ! धन्य भाग्य ! अब यह पंख नहीं रहे पगले, यह तो मुर्दा पंख हैं, यह तो जल चुके। अब मैं शीघ्र गिर पड़ूंगा। पर मुझे मृत्यु से वरदान तो ले लेने दे।'

वह फिर बोला : 'मृत्यु ! वरदान दे। जब तक पृथ्वी पर मैं लोक-कल्याण नहीं करूं तब तक यों ही रहूं। अब मेरे पंख तभी उगें जब मैं जीवन में सत्य और प्रेम का संदेश सुना सकूं। चाहे कितने भी युग बीत जाएं, मैं प्रतीक्षा करूंगा !'

वह गिरने लगा। जटायु ने हाहाकार किया—'भैया ! तुम मेरे लिए जल गए। हे भगवान ! मुझे मौत दे। ओ आकाश, ओ पृथ्वी ! मैं शपथ खाता हूं कि मैं अब कभी अहंकार नहीं करूंगा। जब भी कोई दु:खी मिलेगा, मैं उसके लिए अपने को बलिदान दे दूंगा।'

संपाति ऐसा गिर चला जैसे हिमालय पर्वत गिर रहा था।

दृश्य मेरे सामने से बदल गया। मैंने देखा, समुद्र की अथाह लहरें किनारे पर भयानक थपेड़े मार रही थीं।

मैं पास चला गया। घायल संपाति पड़ा था।

'कौन ?' उसने पूछा। लगा जैसे मेघ गर्जन कर उठे।

मैंने कहा : 'मैं हूं संपाति ! तुम यहां कब से पड़े हो ?'

'पता नहीं,' उसने कहा, 'रोज सूर्य आता है, चला जाता है, कभी आंधी आती है, कभी तूफान। मैं इस चट्टान और बालू पर पड़ा रहता हूं। जब प्यास बहुत लगती है तब चोंच खोलकर आकाश में

उड़ते मेघों को पी लेता हूं। मुझे भूख लग रही है, मुझे भूख लग रही है।'

'तुम्हें भूख लगती है ?'

'प्राणी की भूख बड़ी भयानक होती है। वह बड़ी निर्लज्ज होती है। वह तो सदैव लगती है। जब लोग अपने घर के आदमी को मरघट में जलाकर आते हैं तब भी यह भूख उन्हें विचलित कर देती है। उस समय भी सब अपने पेट को भरने के लिए व्याकुल हो जाते हैं। तुम जानते हो न ? कहते हैं कि एक नरक ऐसा भी होता है जिसमें सूर्य की किरण भी नहीं पहुंचती। वह नरक यह पेट ही है।'

मैं सोचने लगा। पत्थर पर बैठ गया। न जाने कितनी शताब्दियों तक हम बैठे बातें करते रहे।

संपाति कराह उठता।

मैंने कहा : 'संपाति ! कब तक कराहते रहोगे ?'

वह बोला : 'मैं स्वयं नहीं जानता। एक समय था, जब ठंडे जल पर भी मेरे पंख टकराते थे तब बिजलियां कड़कती थीं। पर आज तो मेरे पंख नहीं हैं। क्यों ? जानते हो न ? जब कोई अहंकार करता है तब उसकी शक्ति नष्ट हो जाती है।'

'तो क्या तुम्हें आशा है कि वे फिर निकल आएंगे ?'

सहसा ही वह चिल्ला उठा : 'कौन है ?'

आकाश को हिलाता हुआ स्वर आया : 'मैं हूं दुर्दांत रावण ! जिसकी शय्या से वरुण बंधा रहता है, जिसको पवन बंदी बनकर पंखा झलता है, जिसके डर से यम भी कांपता है।'

मैंने देखा, वह विशाल काले पर्वत-सा दीख रहा था। उसके

हाथों में एक अनिंद्य सुन्दरी ऐसी दीखती थी, जैसे बादलों के बीच में बिजली कौंध उठती हो !

संपाति बुदबुदाया : अत्याचारी ने पृथ्वी की पुत्री को पकड़ लिया है। अब शीघ्र ही मनुष्य आएगा। वह इसे मारेगा !

वह शब्द सुनकर रावण हंसा। बोला : 'मैंने सूर्य तक उड़ने वाले जटायु के पंख काट डाले मूर्ख ! मुझे भी कोई जीत सकता है ?'

संपाति ने कहा : 'जटायु मर गया !' उसका दारुण स्वर गूंज उठा जिससे विशाल वन हरहरा उठे।' मर गया मेरा नादान भाई ! तूने मार डाला मदांध ! एक दिन तू भी नहीं रहेगा, क्योंकि तू नहीं जानता कि सर्वभक्षीकाल छोटे-से बहाने से बड़े-बड़ों को नष्ट कर देता है। एक दिन इस गर्जन करते महासमुद्र को चुनौती देकर एक बालू का कण इसमें गिरा था, तब समुद्र ने हंसकर उसपर ध्यान भी नहीं दिया था। लेकिन मेरे देखते ही देखते क्या से क्या नहीं हो गया। समुद्र जिस चट्टान की जड़ें काट रहा था, वह नहीं जानता था कि जिस कणों को वह पीस रहा था वे उसे ही निगलते बढ़ रहे थे। उस एक बालू के कण पर लाखों कण चढ़ते रहे और अंत में वह एक ऐसी विशाल भूमि बन गए कि जब समुद्र उससे टकराया तो उसका मुंह फेनों से भर गया और वह घायल अजगर की तरह पीछे सरक गया। सुन रहा है उसका हाहाकार ! तू नहीं जानता अभागे कि आज तक जो तुझसे लड़े, वे स्वयं तेरी तरह ही लोभी और स्वार्थी थे। अब जो आ रहा है वह धर्म के लिए सब कुछ छोड़ चुका है। वह निस्स्वार्थ है। उसकी शक्ति उसका प्रेम है जो वह ऐसों को गले लगाता आ रहा है जिन्हें सब घृणा करते हैं। तू सबसे जीत सकता

है किन्तु मनुष्य के विश्वास से नहीं जीत सकता।'

रावण गर्व से चिल्लाया : 'देख लूंगा।'

और वह चला गया।

और मेरे देखते ही देखते समुद्र-तट पर भयानक भीड़ छा गई। वे जंगल के रहने वाले थे, जिन्हें सब वानर कहा करते थे।

वे भयानक ऊभचूभ करते समुद्र को देखकर निस्तब्ध खड़े रह गए।

हठात् एक युवक आगे बढ़ा।

उसे बढ़ते देखकर एक अधेड़ व्यक्ति ने कहा : 'युवराज !'

युवक ने मुड़कर देखा और वह बोला : 'युवराज !'

वह व्यंग्य से हंसा और कहा : 'कौन है तुम्हारा युवराज ! मैं युवराज नहीं हूं। मैं तो अंगद हूं ; अभागे बालि का बेटा। उस पराक्रमी बालि का पुत्र हूं मैं, जिसने रावण के अहंकार को तोड़ दिया था। किन्तु मैं दुर्भाग्य से ग्रस्त हूं मित्रो ! तुम सब लौट जाओ ! महाराज सुग्रीव की दासता मुझसे स्वीकार नहीं होती। वह मेरे पिता का हत्यारा है। वह नीच अपने स्वार्थ के लिए कुछ भी कर सकता है।'

उसका स्वर क्रोध से भर गया। वह चिल्लाया : 'कहां ढूंढ़ें हम सीता को ? पत्थरों पर भटकते-भटकते पांव लहूलुहान हो गए, और मेरी माता को धोखा देनेवाले उस कठोर का कोई भरोसा नहीं। वह सबका वध कर देगा। यह कोई जीवन है ?'

जैसे उसकी व्यथा घुट गई थी। सहसा वह चिल्ला उठा : 'वानरो ! मैं विद्रोही हूं। मैं आज सुग्रीव से विद्रोह करता हूं !'

विद्रोह की ज्वाला से सेना भड़क उठी।

उस समय लगा जैसे अब भयानक रक्तपात हो उठेगा।

मैंने मुंह छिपा लिया।

तभी स्वर सुनाई दिया : 'शांत रहो अंगद ! आपसी वैर को भुला दो। हम सब एक बड़े कार्य के लिए एकत्र हुए हैं और वह है रावण का विध्वंस !'

'मारुत हनुमान ठीक कहते हैं।' किसीने कहा।

तभी संपाति बुदबुदाया : 'अरे आज तो यहां बहुत-से वानर एकत्र हैं !'

उसका स्वर सुनकर सब ही भयभीत हो गए।

मैंने देखा, समुद्र उसी वेग से फुंकार रहा था। इसी समुद्र के पार थी सीता। कब तक न जाने यह कथा भारत में गाई जाती रहेगी ! क्या था उन व्यक्तियों में जो वे आदर्श बन गए और अनुप्राणित करते रहे।

अनंत आकाश के नीचे वह छोटे-छोटे वानर, और वह विशाल-काय संपाति ! वह एक दिन सूर्य की ओर उड़ा था, किन्तु आज पृथ्वी पर आकर फिर उसे भूख ने व्याकुल कर दिया था !

'भूख लगी है।' संपाति गुर्राया। 'भूख लगी है। आज मेरी युगों की भूख मिटेगी भगवान !'

उसके भयानक स्वर को सुनकर जब उन्होंने देखा तो वे सब कांपकर गिर पड़े।

विचक्षणबुद्धि जाम्बुवान ने कहा : 'तुम कौन हो ? हमें क्यों खाना चाहते हो ? हम तो माता सीता को खोजने जा रहे हैं।'

'आह !' संपाति ने कहा--'उसे रावण ले गया है। अब मैं तुम्हें

नहीं खाऊंगा, क्योंकि तुम एक पवित्र कार्य के लिए जा रहे हो। लोक के कल्याण के लिए रावण का मरना आवश्यक है, क्योंकि अहंकार उसमें चरमसीमा पर पहुंच गया है।'

अभी संपाति ने ये शब्द कहे ही थे कि उसके मुख से हर्ष की ध्वनि निकल गई—'हैं! मेरे पंख कैसे निकल आए?'

'अरे! मैं तो उड़ सकता हूं! हे भगवान! किरण की डोरी उगलता यह सूर्य, सूत की पौनी की तरह यह सूर्य न जाने कितनी बार काल की तकली पर मेरे सामने उत्तरायण और दक्षिणायन उतर गया, लेकिन मुझे ऐसा फल तो नहीं मिला? आज मैंने महा-पुण्य किया है!'

यह कहकर वह आकाश में उड़ चला और समुद्र-तीर पर वानरों में माता वैदेही का तुमुल जयजयकार उठने लगा।

सब चला गया है आंखों से दूर। सब कुछ ओझल हो गया है। मैं कहां हूं अब! मैं नहीं जानता। किन्तु जीवन की तृष्णा नहीं बुझी है। मैं अभी और आगे जाना चाहता हूं, और आगे जाना चाहता हूं।

'नीला! तुमने देखा?'

कोई नहीं है।

एक छाया हिल उठती है।

'ओ छाया सुन!'

अनमनी छाया ।

बोले नहीं, डोले !

'सुनो छाया, सुनो !'

छाया लंबी होकर पौढ़ गई है ।

पत्तों-सा आगे का समूह हिलता है । मानो यह संकेत है कि बोलो ।

मैं कहता हूं : 'जीवन कब से व्यस्त है ।'

छाया के दांत नहीं, मुंह नहीं, आंखें नहीं, पर वह हंसती है और मुझे दीखती है । वह कहती नहीं, पर मैं सुनता हूं : 'मुझे नहीं मालूम । मेरा छोटा-सा संसार है । मैंने मांगा ही क्या ? एक पति, एक संतान ।'

क्या पुरुष भी इतना ही चाहता है ?

पुरुष छलिया है । नारी से वासना-तृप्ति करता है और उसकी संतान को उससे छीन लेना चाहता है । वह स्वार्थी है ।

मैं हिल उठता हूं ।

पूछता हूं : पुरुष नारी के माध्यम से आता है । उसे इतने काम हैं कि वह संकुचित नहीं रहना चाहता, वह व्यापक बनना चाहता है ।

प्रमाण !

प्रारंभ से अब तक, सब !

जैसे ?

वाल्मीकि !

महाकवि जिसने मर्यादा पुरुषोत्तम को स्थापित किया, लेकिन धरती की बेटी के लिए कोई हक उपस्थित न कर सका ।

उससे भी पहले उसने परिवार की लघुसंज्ञा का परित्याग किया

क्योंकि वह उसमें अपने व्यक्तित्व का विकास नहीं कर सकता था। उसने मर्यादा पुरुषोत्तम का जीवन स्वयं जिया, ऐसा, जैसा राम भी नहीं जी सके थे। और धरती की बेटी की वास्तविकता भी उसने प्रकट कर दी कि कामिनी रूप में वह केवल लालसा थी और कुटिल से कुटिल वचन कह सकती थी। उसने लक्ष्मण की मर्यादा की रेखा का भी उल्लंघन कर दिया था। तुलसी ने उसे माता कहकर ढंकने की चेष्टा की।

छाया कांप उठी है।

नीला दीख रही है।

पूछती है : 'फिर क्या जो परित्याग हुआ उसमें राम ने ठीक किया ?'

'राज्य बड़ा था या स्त्री ?'

'स्त्री !'

'राज्य नहीं ?'

'होगा राज्य के लिए, लेकिन स्त्री के लिए ? परिवार के लिए ?'

'परिवार राज्य के विरुद्ध है।'

'क्या मानवीय भावनाओं पर समाज और राज्य के विकृत बंधन नहीं हो सकते ?'

छाया में क्रोध है। मैं कहता हूं : 'सुनो ! छाया से वास्तविक रूप में प्रकट होने वाली नीला ! क्या तुम रावण-वध में लोक-कल्याण मानती हो ?'

'मानती हूं।'

'बस वहीं निर्णय हो गया। नारी ने अपने को जिस पातिव्रत की

दासता में बांधा, उसके पीछे नर पर निर्भर रहने की लालसा थी, ताकि उत्तरदायित्व से मुंह चुराकर आराम से रहा जाए। लेकिन पिंजरा तो सोने का होने पर भी पिंजरा ही रहेगा। गुलामी से अविश्वास और नफरत पैदा होते हैं। शरीर की भूख को हम प्रेम का नाम देते हैं, उसे पवित्र कहते हैं, पर उसकी जड़ में है रोटी···।

छाया भाप बनकर उड़ रही है और मैं अवाक् हो गया हूं···

क्या वह छाया भय बनकर मेरे भीतर ही समा गई है ? कहां गई वह······

४

बकुलावलिका

मैं मोड़ पर क्या देखता हूं कि महाकवि कालिदास पानवाली की दूकान पर खड़े हुए हैं।

'अरे तुम आ गए ?' उन्होंने कहा।

'मैं आपको कब से ढूंढ़ रहा था।'

'मैं अतीत की ओर जाने ही वाला था।'

'मैं भी चलूं आपके साथ।'

वे मुस्कराए। बोले : 'चलो ! तांबूल खा लो।'

पानवाली ने कहा : 'मैंने कर्पूरसिंचित बनाया है।' वह मुस्कराई है।

मैंने कहा : 'मुझे कोई रुचि नहीं है।'

'ताम्बूल में रुचि नहीं है ?' हठात् कवि ने चौंककर कहा : 'बड़े नीरस हो ! और इन मधुर हाथों में भी नहीं है जो...'

मैंने कहा : 'चलिए भी कोई सुनेगा तो क्या कहेगा ?'

'सुनेगा तो कहेगा ?' महाकवि ने कहा।

मैंने देखा महाकवि 'बोर' करने पर तुले हुए थे। वे ही बोले : 'अच्छा ! यह सब तो देखा जाएगा। अब चलो।'

'किधर ?'

'सम्राट पुष्यमित्र शुङ्ग का तो नाम सुना है ?'

'क्यों नहीं ? मैं तो जानता हूं कि तपोवनों में भी शौंगीकुल विख्यात था।'

प्रसन्न हो गए महाकवि। बोले : 'वही, वही। वह बृहस्पतिमित्र कायर था। सम्राट ने उसे सिंहासन से उतारकर राज्यारोहण किया।'

मैंने कहा : 'मैं जानता हूं महाकवि ! ऋषि पतंजलि उनके यज्ञ-कर्ता ठहरे।'

'तो मैं, उन्होंने कहा : 'सम्राट के पुत्र अग्निमित्र से मिलने जा रहा हूं।'

'कहां ? विदिशा ?'

'अरे ! तुम तो समझते हो !' महाकवि ने कहा। 'चलो ! अब विलंब मत करो।'

हम चल पड़े।

सचमुच विदिशा बड़ी सुन्दर नगरी थी। मैंने उसे एक बार पहले भी देखा था। तब मैं सतपुड़ा की पांचवीं पर्वत-श्रेणी की यात्रा करने

गया था और आम्ला जैसी फौजी बस्ती में ठहरा था। फिर वहां से मैंने सतपुड़ा के घने आंवले के जंगल देखे थे। वे भयानक थे, बीहड़ थे। गौंडों की बस्ती में बैठकर अरिया खाया था। एक वृक्ष से दूसरे वृक्ष तक जाला पूरनेवाली मुट्ठी बराबर की मोर की गर्दन के रंग की मकड़ियां मैंने वहां देखी थीं। लौटते समय जब मैं इटारसी पहुंचा तो सोचा कि क्यों न सांची देखता चलूं। उसी समय सांची से भेलसा गया था। वही भेलसा तो विदिशा थी। प्राकृतिक दृश्य तब भी बड़ा सुरम्य और मोहक था। पर यह विदिशा तो समृद्ध थी। मैं अटक-अटककर चलने लगा तो महाकवि बोले : 'जल्दी चलो। प्रासाद की ओर चलना है।'

मैं सतर्क हो गया।

महाकवि आराम से भीतर चले गए। मैं भी साथ ही साथ चलता रहा।

प्रासाद में सुवासित वायु थी, क्योंकि अगरू के जलने से धूम ने सर्वत्र अपना यश फैला दिया था।

मोड़ पर महाकवि ने ठिठककर कहा : 'अरे !'

सामने खड़ी स्त्री ने देखा तो प्रसन्न हो गई।

बोली : 'आप कब आए विधाता ?'

'मैं विधाता बन गया ?' महाकवि ने हंसकर कहा।

'इन्हें जानते हो ?' महाकवि ने मुझसे कहा।

मैंने आंखें उठाईं। इससे पहले कि मैं कुछ सोच पाता, स्त्री ने ही मीठे स्वर से कहा : 'मैं हूं बकुलावलिका !'

'कितना मीठा नाम है !' मेरे मुख से निकला।

स्त्री तृप्त-सी मुस्करा दी।

'मैं,' उसने कहा : 'चेटी हूं।' फिर कहा—'महाकवि ! अब तो मैं व्यस्त हूं। सेवा तो सेवा ही है न ?'

'कहां जा रही हो ?' कालिदास ने पूछा।

बकुलावलिका ने कहा : 'बात यह है विधाता ! देवी ने आज्ञा दी है कि मैं नाट्याचार्य गणदास से जाकर मिलूं।'

महाकवि ने कहा : 'क्यों गणदास से क्या काम है ?'

'काम न होता तो जाती ही क्यों ? छलिक नृत्य के लिए मालविका उन्हींके पास तो अभ्यास कर रही है। देवी ने पुछवाया है कि उसकी प्रगति कैसी है। इसीको पूछने के लिए तो मैं रंगशाला जा रही हूं।'

'वह कौन आ रही है ?' महाकवि ने कहा।

'वह भी चेटी ही है।'

'तो,' महाकवि ने कहा, 'मैं चलता हूं।'

बकुलावलिका ने कहा : 'विधाता ! इस समय तो मैं भी व्यस्त हूं।'

महाकवि जैसे मुझे भूल गए। वे तो सचमुच मेरे देखते ही देखते बगल के द्वार से बाहर निकल गए। मैं उन्हें ढूंढ़ता उनके पीछे चला, परन्तु मुझे बकुलावलिका के मुख पर आई कौतूहलभरी मुस्कराहट ने पास के स्तम्भ के पीछे रोक दिया। वह मेरी उपस्थिति से अनभिज्ञ थी।

सामने से हाथ में आभरण लिए एक और युवती आई।

बकुलावलिका ने आवाज कसी : 'अरी कौमुदिके ! आज तो

बड़ी गम्भीर दीख रही है, जो पास से जाती हुई इधर देखती भी नहीं ?'

बात ने असर किया। कौमुदिका कुछ शर्माई। पास आ गई।

बोली : 'हाय ! तुम हो बकुलावलिके ! क्या बताऊं सखी।'

'बताओगी क्यों नहीं ?'

'देखो ! सुनार के यहां गई थी इसे लेने। देवी की सर्पमुद्रा वाली अंगूठी है। अभी उससे लाई हूं। अचानक इसीपर आंखें गड़ गईं। बड़ी सुन्दर है। ध्यान न बंटा मेरा। तब ही तो तुम्हारा यह उलाहना सुनना पड़ा।'

बकुलावलिका ने कहा : 'मैं यही तो देख रही थी। मेरी दृष्टि ठीक जगह बैठी थी। सच कहूं ? यह अंगूठी है ? इससे किरणें कैसी निकली पड़ रही हैं ! मुझे तो लगा कि तुम्हारे हाथ में फूल भरे हैं।'

बकुलावलिका की बात से मैं मोहित हो गया। स्त्री में अभिव्यक्ति तो थी।

कौमुदिका ने कहा : 'सखी !'

बकुलावलिका ने आंखें उठाईं।

'क्यों ?' पूछा।

कौमुदिका ने कहा : 'तुम किधर चलीं ?'

'अरी !' उसने उत्तर दिया, 'मैं देवी की आज्ञा से जा रही थी नाट्याचार्य गणदास के पास !'

'ऐसा क्या हुआ ?'

'मालविका वहां नाट्यशिक्षा पा रही है न ?'

'जानती हूं।'

'तो यह पूछना है कि कितना सीख गई है।'

'सखी ! वह तो इतनी अलग-अलग रहती है। फिर वह राजा की आंखों के सामने आ कैसे गई ?'

'यही तो ! राजा ने उसे देख लिया। पूछ कहां ?'

'पूछती तो हूं।'

'देवी के चित्र में।'

'क्या मतलब ?'

'सुन तो ! एक दिन एक चित्रकार आया। देवी चित्रशाला में बैठी उसके चित्र को देख रही थीं। नया चित्र था। उसी समय महाराज वहां आ गए !'

'फिर ?'

'देवी ने स्वागत-सत्कार किया। फिर जब सब लोग बैठ गए तो राजा भी चित्र देखने लगे। चित्र में देवी के साथ अन्य परिजन भी थे। उन्हींमें एक बालिका थी ! वह थी मालविका। राजा ने झट ही तो पूछा देवी से।'

'हाय क्या पूछा ?'

'बोले : देवी के साथ चित्रित यह बाला तो अत्यन्त सुन्दरी है। है कौन यह ? इसका नाम क्या है ?'

'सच ! रूप में भी कितना आकर्षण होता है ! अपनी ओर बरबस खींच लेता है। फिर देवी ने कहा कुछ ?'

'नहीं, सुनकर अनसुनी कर गईं। बस राजा को वहीं से शंका हो गई। लेकिन माने नहीं। बार-बार पूछने लगे। वहीं कुमारी

वसुलक्ष्मी भी थी। कह ही उठीं कि यही तो मालविका है।'

कौमुदिका हंस दी।

कहा : 'लड़कपन ही जो ठहरा। कह दिया होगा। भला बालिका यह सब क्या समझे ?'

बकुलावलिका ने मुस्कराकर कहा : 'और क्या ? पर जानती है !'

कौमुदिका के नयन कुछ फैल गए।

बकुलावलिका ने कहा : 'बस उसी दिन से मालविका को राजा की आंखों से विशेष ध्यान देकर अलग रखा जाता है।'

फिर रहस्यमयी मुस्कराहट उसके होंठों पर नाच उठी।

कौमुदिका को जैसे ध्यान हो आया। कह उठी : 'अच्छा सखी ! तुम अपने काम पर जाओ। मैं भी अंगूठी देने जाती हूं।'

बकुलावलिका ने सिर हिलाया। कौमुदिका के चलने पर बकुलावलिका भी चल पड़ी।

सामने ही संगीतशाला थी। नाट्याचार्य गणदास बाहर आ रहे थे।

बकुलावलिका उनसे मिलने आगे बढ़ी।

गणदास को अपनी विद्या का गर्व था। उसे अपनी विद्या के प्रति गौरव का अनुभव होता था। मुनियों ने जिस कला को देवताओं के लिए सौम्य नेत्र-यज्ञ कहा है, महादेव ने जिसे अपने अर्धनारी-स्वरूप में लास्य और ताण्डव रूपी भागों में विभक्त किया है, जिसमें शृंगार आदि नवरस तथा तीनों गुणों से लोक-चरित दिखाया जाता है, वह एक ही कला द्वारा भिन्न-भिन्न रुचि के लोगों का मनोविनोद कर देती है, इसे गणदास जैसे समझते थे, वैसे ही उसका आनंद भी

लेते थे।

वे अपने ध्यान में आ रहे थे कि बकुलावलिका ने बढ़कर कहा : 'आर्य ! नमस्कार !'

गणदास ने कहा : 'चिरंजीविनी हो।'

बोली : 'देवी ने मुझे यह पूछने भेजा है कि मालविका की शिक्षा कैसी चल रही है ? क्या वह आगे उन्नति कर रही है ?'

गणदास बोले : 'भद्रे ! मैं उससे प्रसन्न हूं, तुम कहना कि वह तो निपुण है। मैं उसे अभिनय के लिए जो भाविक बताता हूं, वह तुरंत उसे ऐसे करके दिखाती है कि मैं तो देखता ही रह जाता हूं। कभी-कभी तो ऐसा लगता है जैसे वह मुझे उल्टे उपदेश दे रही है।

बकुलावलिका मन ही मन बुदबुदा उठी : 'मुझे लगता है कि यह इरावती से कहीं आगे निकल जाएगी।'

फिर उसने कहा : 'जिससे गुरुजन इतने प्रसन्न हैं, उसकी शिक्षा सचमुच सफल हो गई।'

आचार्य गणदास अब भी हर्षित दीख रहे थे। बोले : 'भद्रे ! उस तरह का पात्र भी भाग्य से ही मिलता है। सच बताओ। देवी ! को वह मिली कैसे ?'

बकुलावलिका ने कहा : 'आर्य ! देवी के एक दूसरे वर्ण के भाई हैं। उनका नाम है वीरसेन। नर्मदा-तट पर अन्तपाल दुर्ग में उन्हें राजा ने रक्षकपद पर नियुक्त करके रखा है। उन्होंने देखा कि यह लड़की बड़ी चतुर थी। कला के प्रति इसमें रुचि थी, इसीलिए उन्होंने इसे अपनी बहन देवी के पास भेज दिया, जिससे इसे शिल्पशिक्षा अच्छी तरह से मिल सके।'

आचार्य गणदास की आकृति से लगा जैसे वे कुछ सोच रहे थे। शायद उन्हें संदेह हो रहा था कि मालविका किसी ऊंचे कुल में जन्मी थी। पर उन्होंने इस भाव को प्रगट नहीं किया। केवल कहा : 'भद्रे ! मैं भी सफल हुआ। मेघ का जल जैसे समुद्र की सीपी में गिरकर मोती बन जाता है, वैसे ही योग्य पात्र में शिक्षा भी अपनी उन्नति को ही प्राप्त होती है।'

बकुलावलिका को कौतूहल हुआ। बोली : 'आर्य ! आपकी शिष्या है कहां ?'

आचार्य ने कहा : 'अभी-अभी मैंने उसे पंचांग से अभिनय करने की रीति सिखाई है। अब मैंने उसे विश्राम करने का समय दिया है। वह बावड़ी की तरफ वाली खिड़की के सामने बैठी हवा खा रही है।'

बकुलावलिका ने कहा : 'आपकी आज्ञा मिल जाए तो मैं उससे मिलकर उसे बताऊं कि आप उससे कितने प्रसन्न हैं। उसका उत्साह बढ़ेगा !'

आचार्य मुस्कराए। कहा : 'हां, हां। जाकर सखी से मिलो। अब मैं भी घर चलता हूं।'

बकुलावलिका भी चली गई। आचार्य भी। मैं अकेला रह गया।

मैं यह सोचने लगा कि मैं कहां आ गया था, उसी समय एक ब्राह्मण मेरे सामने आ खड़ा हुआ, बोला : 'अजी, क्या देख रहे हो ?'

मैंने कहा, 'आप कौन ?'

उसने कहा, 'गोल-गोल लड्डू खाने वाले, जोकि राजा की नस पकड़ सकते हैं।'

'ओह, विदूषक महाराज हैं !'

विदूषक ने कहा, 'अभी-अभी डटकर मिष्ठान्न खाकर आया हूं, क्योंकि आज गणदास हरदत्त से जीत गए हैं। दोनों नाट्याचार्यों में बहस हो गई थी। राजा हरदत्त की ओर थे और रानी थीं गणदास की ओर। अन्त में दोनों की प्रतियोगिता हुई। गणदास जीत गए, क्योंकि उनकी शिष्या मालविका ने ऐसा नृत्य किया कि राजा मोहित हो गए। वे हरदत्त की शिष्या का काम देखना ही नहीं चाहते थे। देर तक बैठे रहने के कारण मेरा भी पेट भट्ठी के तवे की तरह जल उठा। राजा मालविका से मिलना चाहते हैं। चलूं, मालविका की खबर ले आऊं।'

वह मुड़ पड़ा। देखता क्या हूं बकुलावलिका अलिन्द में चली जा रही है। विदूषक ने उसकी ओर देखकर पुकारा, 'सुनो भद्रे !'

बकुलावलिका रुककर बोली, 'कहो ब्राह्मण देवता !'

विदूषक ने कहा, 'प्रेयसी के आलिंगन के अभाव में देह दुबली होती जा रही है।'

बकुलावलिका हंस दी। बोली, 'अच्छा तो ब्राह्मण पर संकट आ गया है ? प्रेम हो गया है ! कुछ मुझसे भी तो कहो।'

विदूषक ने कहा : 'भद्रे ! तुमसे कहने के लिए कब से छटपटा रहा हूं ! पर तुम अब तक तो देखती ही नहीं।'

बकुलावलिका सकपका गई। बोली : 'क्या कहते हैं आप ? कोई सुनेगा तो क्या कहेगा ?'

विदूषक बोला : 'यही तो मुझे डर है। कहीं तुम्हारी देवी ने सुन लिया तो समझ लो हम दोनों की खैर नहीं। वैसे मुझे तुम्हारी

ओर से तो पूरा विश्वास है कि तुम तो ना नहीं कर सकतीं ।'

बकुलावलिका का चेहरा झेंप से लाल हो गया, कह उठी : 'चुप ही रहिए ब्राह्मण देवता ! आपको तो लड्डुओं से प्रीत अच्छी रहती है ।'

विदूषक बोला : 'भद्रे ! क्या पूछती हो ? बूचड़खाने के ऊपर मड़राने वाले गिद्ध की तरह हृदय मांसलोभी हो गया है । क्या ऐसा गिड़गिड़ाना तुम्हारे हृदय को नहीं छूता ?'

बकुलावलिका बोली : 'छिः आपकी बुद्धि जाने क्या हुई ! मैं तो जाती हूं ।'

किन्तु विदूषक उसके सामने अड़कर खड़ा हो गया और बोला : 'मैंने सुना था कि तुम्हारा हृदय कामातुरों की वेदना को समझता है, किन्तु तुम्हें तो कोई चिन्ता ही नहीं दीखती ! क्या तुम मेरी यह छोटी-सी प्रार्थना भी पूरी नहीं कर सकतीं ?'

बकुलावलिका को काटो तो खून नहीं । हाथ जोड़कर बोली : 'आप ब्राह्मण हैं, पूज्य हैं । आयु के कारण भी मैं आपका सम्मान करती हूं । आप राजा के प्रिय हैं परन्तु मैं भी देवी की परिचारिका हूं ।'

विदूषक ने काटकर कहा : 'इसीलिए तो तुम मेरा काम कर सकती हो, क्योंकि तुम देवी की हर बात की खबर मुझे ला दे सकती हो । सच कहता हूं, मुझे मालूम पड़ा है कि यह व्याकुलता दोनों ओर से बराबर है ।'

बकुलावलिका की त्यौरी फिर चढ़ गई, किन्तु विदूषक ने ध्यान नहीं दिया । वह कहता ही रहा : 'तुम तो मालविका की प्रिय सखी

हो। क्या राजा का सम्वाद उस तक नहीं पहुंचा सकतीं ?'

बकुलावलिका एकदम चौंककर झेंप गई। और बोली : 'तो यह बात है। तो यह सब तुम अपनी ओर से नहीं कह रहे थे ?'

विदूषक ने कहा : 'अपनी ओर से तो कह ही रहा था, पर तुम समझ ही नहीं रही थीं।' बकुलावलिका फिर सकपका गई। बोली : 'तो क्या मालविका को तुम्हारा सन्देश देना होगा ?'

विदूषक ने कहा : 'अवश्य ! अन्यथा मिलन हो जाने पर मुझे लड्डू कौन देगा ?'

बकुलावलिका ने कहा : 'पर मिलन किसका होगा ?'

विदूषक ने उत्तर दिया : 'ऐसा लगता है कि तुम्हारे भेजे में बुद्धि नाम की वस्तु है ही नहीं। क्योंकि मैं इतनी देर से कह रहा हूं, परन्तु अभी तक कुछ तुम्हारी समझ में ही नहीं बैठा।'

बकुलावलिका हंस दी, बोली : 'बस, बस, समझ गई। मैं मालविका से कह दूंगी, आप महाराज से निवेदन कर दें कि मैं इस आदेश से अनुगृहीत हुई, किन्तु महारानी निरन्तर उसकी देखभाल करती रहती हैं। जैसे सांप से रक्षित खज़ाना मिलना सहज नहीं होता, वैसे ही उससे मिलना भी आसान नहीं होगा, फिर भी प्रयत्न करूंगी।'

विदूषक ने कहा : 'राजा से तुम्हें पुरस्कार दिलवाऊंगा।' अच्छा अब मैं चलता हूं।'

वे दोनों चल पड़े। विदूषक चला गया। बकुलावलिका स्तम्भ के सहारे खड़ी होकर कुछ सोचने लगी। मैं उसके समीप चला गया, मैंने कहा : 'भद्रे ! क्या सोच रही हो ?'

बकुलावलिका फिर चौंक उठी। उसे उस समय मुझसे मिलने

की कोई आशा नहीं थी। मुझे देखकर उसने कहा : 'आप तो यहीं हैं ?'

मैंने कहा : 'महाकवि जाने कहां चले गए हैं ? अब मैं कहां जाऊं, यही सोच रहा हूं।'

बकुलावलिका ने कहा : 'उन्हींके कारण तो मैं परेशान हूं। राजा ने तो विदूषक से कहा होगा, पर मेरे पास विदूषक को इस काम के लिए आने की सलाह महाकवि ने ही दी होगी।' सचमुच वे ही ऐसी बातें सोच सकते हैं। मैं बकुलावलिका, मैंने जीवन कभी इतनी गहराई से नहीं लिया। अपने खाना-पीना, कुछ काम-धाम कर लेना, यही मेरा कार्य था। अब यह क्या कोई आसान काम है ! मालविका मेरी सखी है, पर कहीं देवी को पता चल गया तो मेरी कितनी बड़ी मुसीबत आ जाएगी ? राजा का क्या है ! रानी उनसे रूठेंगी, तो अपना सुहाग लेंगी ? पर मैं अगर पकड़ी गई तो !'

मैं उत्तर नहीं दे सका। बकुलावलिका ने फिर कहा : 'अब यही थोड़े ही है ? महाकवि मिलेंगे तो वे मुझसे पूछेंगे कि तैने कैसे उनका मिलन कराया ! सच अब सारा बोझ मुझपर डाल दिया है।'

मैंने कहा : 'तुम इतनी चिन्ता क्यों करती हो ? परिस्थिति सब करा लेगी।'

बोली : 'विधाता भी कैसा विचित्र है ! हमें जन्म देकर कहीं छोड़ देता है। फिर हमें जीवित रहने के लिए कितना परिश्रम करना पड़ता है ! तुम सोचते होगे कि मैं बहुत सुखी होऊंगी ?'

वह आपसे तुमपर आ गई। कहती गई : 'राज्यसभा है, राज्य का अन्तःपुर है। पचास लोग इसीलिए डोलते हैं कि हमसे जान-पहचान

हो जाए तो देवी और महाराज से मुलाकात हो जाए। लेकिन कोई नहीं सोचता कि हमें तलवार की धार पर रहना पड़ता है। कब जाने प्रभुओं में से कौन कुछ हो जाए? सच, मुझे तो मालविका पर दया आती है।'

सहसा उसने याद करके कहा : 'अरे मैं चलूं! देर हो गई।'

वह हटी और चली गई।

जीवन में कौन-सा क्षण आता है जिसमें एक ही साथ सूरज उगता भी लग सकता है और डूबता भी?

मैं उठ पड़ा। बाहर आ गया। वही परिचित नारी! यहां भी!

'तुम!' मैंने कहा।

'हां! क्यों?'

'तुम तो महाकवि के साथ थीं?'

'मैं तो तुम्हारे साथ भी हूं। मेरा नाम याद है न?'

'कल्पना!!'

शुभ्रदंत पंक्ति। मैं मुग्ध। अंतरात्मा तक कौंधती-सी बिजली। उसने कहा : 'तुम सोच रहे थे न कि डूबने में उदय भी हो, उदय में अस्त?'

'तुम कैसे जान गईं?'

'यह भी क्या कठिन है। मैं हूं न? मुझमें अपार शक्ति है। देखो!'

मैंने देखा। युगांत की धूलि उड़ रही थी। सारा लोक उसमें डूबा जा रहा था। देखते ही देखते घोर अंधेरा छा गया। और फिर तारागण निकलने लगे। वे मेरे पास आ गए। ज्वलंत पिंड। उनके चलने से

घोर शब्द हो रहा था। मैं डर गया। कितना विराट था सब कुछ !'

कल्पना हंसी।

सारा दृश्य खो गया। फिर देखा सैकड़ों सूर्य एक ओर आकाश में निकल-निकलकर ऊपर चढ़ रहे हैं और पतंगों की तरह बुझ-बुझकर दूसरी ओर गिरते चले जा रहे हैं।

मैंने आंखें मींच लीं।

किसीके नूपुरों की मीठी झंकार सुनाई दी। आंखें खोलीं तो देखा कि मैं तो एक बड़े सुन्दर वन में खड़ा हूं। स्त्रियों की किलकारियां कभी-कभी सुनाई दे जाती हैं। अरे ! यह तो शायद महाराज अग्नि-मित्र का प्रमदवन था !

एक अनिंद्य सुन्दरी हरियाली में खड़ी थी। स्थूलनितम्बिनी थी वह। उसकी कटि कृश थी। उन्नत उरोज थे। आंखें अत्यन्त विशाल थीं। उसके गाल कुछ सुनहले थे, शरीर पर हल्के आभूषण थे। ऐसा लगता था जैसे थोड़े-से फूलों से लदी कुन्दलता हो। वह अशोकवृक्ष के पास खड़ी थी।

कुरबक के पुष्पों से झरते पराग से वायु जैसे सन गई थी। वसंत की नई कोंपलें फूट रही थीं। उनके पास फूल आ गए थे। उनके मकरंद से वायु जर्जर हो गई थी और धीरे-धीरे बहती हुई वह हृदय को उत्कंठित किए देती थी।

उसी समय चरणालंकार लिए सामने से बकुलावलिका आ गई। उसने कहा : 'मालविके !'

तब मैं समझा कि वह तो मालविका थी।

बकुलावलिका ने फिर कहा : 'सखी ! आनंद से तो हो ?'

मालविका प्रफुल्लित हो गई। कह उठी : 'अहा ! तुम आ गईं ! आओ, स्वागत है। बैठो !'

बकुलावलिका मालविका के साथ बैठ गई। बोली : 'देवी ने तुम्हें योग्य समझकर भेजा है। लाओ अपना पांव। इसे रंगकर नूपुर पहना दूं।'

तब मुझे ध्यान आया। अशोक वृक्ष अभी तक फूला नहीं था। ऐसा माना जाता था कि जब तक कोई सुन्दरी उसे पांव न छुला देगी, वह फूलेगा नहीं। इसीलिए देवी ने मालविका को भेजा था !

मालविका को सुख भी असुख-सा लग रहा था।

बकुलावलिका ने कहा : 'सखी ! क्या सोच रही हो ! देवी तो इस अशोक को फूला हुआ देखने को बहुत उत्सुक हो रही हैं ?'

मालविका ने पांव बढ़ाया और कहा : 'मुझे क्षमा कर देना !'

'अरी !' बकुलावलिका ने कहा : 'क्षमा की क्या बात है ? मैं और तुम क्या अलग हैं ? तुम तो मेरी ही देह हो ! लाओ ! संकोच छोड़ो।'

बकुलावलिका ने उसका चरण रंग दिया।

क्षण भर मुझे भी ऐसा लगा जैसे शिव द्वारा भस्मीभूत कामदेव-रूपी वृक्ष में फिर से कोंपल फूट उठी हो !

मालविका और बकुलावलिका को पता भी नहीं था। मैंने देखा कि लतामण्डप में राजा अग्निमित्र और विदूषक छिपे हुए थे। उधर से आ गई राजा की दूसरी रानी इरावती अपनी सखी निपुणिका के साथ।

उफ ! मैंने सोचा। अब क्या होगा ! फिर ध्यान आया राजा का।

पहली तो पटरानी। दूसरी इरावती। तीसरा था यह प्रेम मालविका से ? और इरावती मदिरा पिए थी। उसके पांव लड़खड़ा उठते थे।

इरावती ने मालविका को देखा तो संदेह से वहीं ठिठक गई। देखने लगी।

बकुलावलिका ने मालविका से कहा : 'सखी, अपना पांव देखो। रागलेखा से चरणों की शोभा कैसी अनिंद्य हो गई है !'

यह सब क्या था ? मुझे वह स्थान अपने लिए उचित नहीं जान पड़ा। यह मैं क्या कर रहा था ? कामातुर स्त्रियां ! कामातुर राजा !

एकांत की ओर चला गया। वहां कल्पना बैठी थी।

'तुम कुछ थक गई हो कल्पने ?' मैंने कहा।

वह हंसी। कहा : 'क्यों ? तुम्हें ऐसा क्यों लगता है ?'

'देखो ! यह सब कुछ नवीन तो नहीं।'

'हां, तुम्हें अपने युग की दृष्टि से कुछ भी नवीन नहीं लगता। किन्तु महाकवि के युग की दृष्टि से देखो। इसमें कितना रस है, कितना कौतूहल है ! प्रेम का माधुर्य........'

'रहने दो !' मैंने घास पर बैठते हुए कहा, 'प्रेम कहां है यहां ?'

'क्यों ?'

'देखो ! अग्निमित्र.......'

'महाराज कहो ! कोई सुन लेगा।'

'मेरे युग में राजा समाप्त किए जा चुके हैं।'

'पागल !' कल्पना हंस दी। 'राजा अब रूप बदलकर नये स्वरूप में हैं। इसी प्रकार युग-युग में होता रहता है। क्या तुम जानते हो कि

शुंगकुल ने भारत में कितना बड़ा परिवर्तन उपस्थित किया है ? ये उपनिषद्युगीन कुल के वंशज ब्राह्मण राजा कितना बड़ा परिवर्तन ले आए हैं ! महर्षि पतंजलि जोकि नागकुल के ब्राह्मण हैं, कितने प्रचंड मेधावी हैं ! अग्निमित्र महाराज के पुत्र वसुमित्र ने सिंधु-तीर पर बर्बर यवनों को पराजित किया है । आर्यावर्त में फिर से शांति स्थापित हुई है । अग्निमित्र कितने योग्य शासक हैं !'

'ठीक है !' मैंने कहा, 'लेकिन महाकवि तो उनके इस पक्ष पर कोई विशेष ज़ोर नहीं दे रहे । उनके अनुसार तो मैं प्रणयलीलाएं देख रहा हूं । कोई एक रानी है, दूसरी मदिरा पिए लड़खड़ा रही है, और राजा तीसरी पर डोरे डाल रहे हैं । यह सब क्या मर्यादा से परिपूरित है ? विलासदग्ध जीवन है यह सब !'

'युग है युग !' कल्पना ने कहा ।

'क्या कहती हो ? महाकवि वाल्मीकि ने किस प्रकार भव्य जीवन चित्रित किया है ? काव्य की वह मर्यादा कहां चली गई ?'

'ठहरो !' कल्पना ने कहा, 'मैं स्वयं जाकर महाकवि को लाती हूं । कालिदास के अतिरिक्त तुम्हें इसका उत्तर और कोई ठीक से नहीं दे सकेगा ।'

कल्पना चली गई और जब वह लौटी तो मुस्कराते हुए कविराज साथ थे । आये, बैठे । उनके मुख से पान की सुगंधि आ रही थी । मैंने सोचा, कैसे थे वे वाल्मीकि । सिर पर जटा बंधी हुई । सादे वस्त्र । नदी-तीर पर निवास । वे जीवन के लिए व्याकुल थे कि उसे और भी सुंदर बनाया जा सके । वे कुटिया में रहते थे । और ये कालिदास ! महलों का रहना । रेशमी वस्त्र पहनना । इनको धन

चाहिए, सुख चाहिए।

अचानक मुझे ध्यान आया, कालिदास इस तरह राज्याश्रय क्यों चाहते हैं? क्योंकि उनके अपने पेट का सवाल है। राजा यदि उनकी कदर न करे, तो उन्हें यश कैसे प्राप्त हो? तो क्या महर्षि वाल्मीकि की कदर नहीं थी? वे तो शांत मन से तपोवन में निवास करते थे। वे तो यश की इच्छा नहीं करते थे। परन्तु, फिर मुझे ध्यान आया, यदि उन्हें इच्छा नहीं थी तो उन्होंने लव और कुश को अपनी रामायण किसलिए रटाई थी कि वे जाएं और लोगों को गा-गाकर सुनाएं? क्या वह उस युग में विज्ञापन का माध्यम नहीं था? जैसे आज मैं अपनी रचना प्रेस में भेजता हूं और महाकवि कालिदास राजा के धन की सहायता चाहते थे। नहीं। मुझे लगा, मैं कुतर्क कर रहा था। महर्षि ने अपने नाम के लिए यदि ऐसा किया भी, तो भी उनका उद्देश्य इतने में ही समाप्त नहीं हो जाता था। उनका मूल ध्येय था कि एक आदर्श पुरुष का वर्णन संसार सुने। उन्हें आदर्श पुरुष की वर्णना की आवश्यकता ही क्यों हुई? क्योंकि लोक में उस समय कोई मानव-आदर्श नहीं था। वेद के देवता थे, उपनिषदों का ब्रह्म था, परन्तु मनुष्य के लिए आदर्श नहीं था। महाभारत के पात्र भी आदर्श नहीं थे, महान थे। अंधकाररूपी रावण का वध करने-वाले राम में जीवन की शाश्वत विजय थी।

महाकवि मेरे मौन से ऊब गए थे। बोले : 'कहो? क्या बात है?'

कल्पना ने कहा : 'महाकवि! ये इस विलास कौतूहल से ऊब गए हैं।'

हठात् महाकवि गंभीर हो गए। बोले : 'कल्पने! लौट चलो।

मुझे मेरे युग में लौटा ले चलो।'

दृश्य बदल गया। बकुलावलिका, अग्निमित्र, इरावती, सब कुछ खो गया। हम पाटलिपुत्र आ गए। आ गए इसलिए कहता हूं कि हम काल की पर्तों को पार कर आए। लौटते समय चलचित्रों की भांति मैंने क्या नहीं देखा। देखीं शकों की आक्रमणकारी सेनाएं। देखा, उन शकों ने भारत की पृथ्वी को रक्त से धो दिया था। और फिर देखा मैंने कि आर्यावर्त का बच्चा-बच्चा विक्रमादित्य की जय बोल रहा था। शक पराजित हो गए थे। देखा मैंने नुकीली दाढ़ी वाले कुषाणों को, देखा मैंने उनके सिरों को, यहां के निवासियों के सामने झुक-झुक जाते और तब मैंने देखा पाटलिपुत्र के नगर में एक नया उद्घोष उठते। सशक्त गणतन्त्रों को मैंने सशक्त सम्राटों के सामने शीश झुकाते देखा और तब देखा मैंने कि गौरवान्वित महाकवि कालिदास खड़े थे सम्राट स्कंदगुप्त के सामने, जिन्होंने विक्रमादित्य का विरुद धारण किया था।

कल्पना ने मुझे रोक लिया। मैंने देखा, सम्राट गंभीर मुद्रा में घूम रहे थे। शोण की धारा अब बह रही थी। और मदिर पवन लहरों पर कांप रहा था। सामने अनंत आकाश पर अपने नयन गड़ाए खड़े थे महाकवि कालिदास। देखा मैंने, जैसे अनंत पीड़ा थी कालिदास के नेत्रों में।

'सम्राट !' महाकवि ने धीरे से कहा।

'महाकवि !' सम्राट चौंक उठे।

'आर्यावर्त नष्ट नहीं होगा।' कालिदास का स्वर उठा। 'बर्बर हूणों की पराजय होगी।'

मैं रुक नहीं सका। आगे बढ़ा। कालिदास ने मुझे देखा तो कहा : 'आ गए ! सम्राट का अभिनंदन करो ! ये ब्रह्मचारी हैं। इन्होंने पृथ्वी की रक्षा के लिए तीन दिन पृथ्वी पर शयन किया था। आसमुद्र जिनका साम्राज्य फैला हुआ है, इन्होंने पूर्वजों के विलास का प्रायश्चित्त करने के लिए कठोर भूमि पर शयन किया था।'

मैंने अभिनन्दन किया। सम्राट ने कहा : 'कौन ? कवि हैं ?'

कालिदास ने कहा : 'नये युग के कवि हैं।'

सम्राट ने मुझे कौतूहल से देखा। एक कालिदास थे जिन्हें सम्राट सिर झुकाते थे, एक मैं अदना लेखक, जिसे एम० एल० ए० भी अपमानजनक दृष्टि से देखकर टाल जाते हैं ! एक क्षण मैंने सोचा कि स्कंदगुप्त से कहूं कि तुम साम्राज्यवादी हो, परन्तु मुझे अपने ऊपर लज्जा हो आई। वे प्रजा के रक्षक थे, जो हथेली पर जान लिए फिरते थे। कितना भव्य व्यक्तित्व था वह ! अपने युग में कौन ऐसा राजनीतिज्ञ था ? मुझे ढूंढ़ने पर भी नहीं दीखा। एक गांधी का चित्र बिजली जैसा मेरे मन में कौंध गया।

कालिदास ने कहा : 'सम्राट ! मेरी लेखनी में जब तक बल है, तब तक आर्यावर्त की सेवा से वह च्युत नहीं होगी।'

मैंने कहा : 'तभी तो आप विदिशा के रंगमहलों में सौतों की डाह-क्रीड़ा में व्यस्त थे !'

हठात् सम्राट ने मुझे टोक दिया और कहा : 'नये युग के लेखक ! क्या कहते हो ? महाकवि से किस प्रकार सम्भाषण करते हो ! कवि सम्राट को भी मान्य होता है। सम्राट उसपर दया नहीं करते, उससे यश प्राप्त करते हैं। महाकवि कालिदास के विषय में तुम क्या जानते

हो ? महर्षि वाल्मीकि के बाद ऐसा हुआ ही कौन है जिसे सरस्वती ने संपूर्ण शक्ति दे दी हो ? इसी कालिदास के दिलीप ने पृथ्वीरूपी गौ की रक्षा के लिए समर्पण कर दिया और हमें बताया कि राजा किसलिए होता है। इसी कालिदास के रघु की प्रचंड सेना के पांव की धमक सुन-कर मैंने बर्बर हूणों की दुर्निवार सेना को वक्षु के पीछे तक जा धकेला है। इसी कालिदास के पराक्रमी रामचन्द्र के कोदंड की टंकार सुनकर मेरा मन आर्यावर्त की रक्षा के लिए बारंबार सन्नद्ध हो उठता है। इसके रामचन्द्र की पुष्पक विमान-यात्रा ने मुझे लंका से विंध्य तक, और इसके मेघदूत के यक्ष के मित्र मेघ के संदेश ने मुझे विंध्य से हिमालय तक फैले हुए देश का अनुपम सौंदर्य दिया है, और आर्त वेदना से मेरा मन इस संपूर्ण विभा को जीवित रखने को कातर हो उठा है। तुम विदिशा के विलास की टीका-टिप्पणी करते हो, किन्तु तुम नहीं जानते कि पुरुरवा और अग्निमित्र हमारी संस्कृति के जीवंत पात्र हैं। जीवन की समग्रता को महाकवि कालिदास ने बटोरकर रख दिया है, तुम उसे खंड-खंड करके देखना चाहते हो! देखो! उसने भरत की माता की पवित्र झलक दी है। उसने नारी का गौरव उठाया है। दैत्यों और असुरों से पदाक्रान्त हो गई सारी वसुंधरा। तब महाकवि ने जीवन की इच्छा काम को हमारी शाश्वत गरिमा परमशिव के सामने ला खड़ा किया। उसकी स्थूल वासना को भस्मीभूत कर दिया, किन्तु रति के विलाप में शाश्वत प्रीति जागरित कर दी। हमारे देवतात्मा हिमालय की पुत्री हैमवती पार्वती तपःपूत-सी उठ खड़ी हुई और इस प्रकार पृथ्वी की पुत्री का परमशिव से वरण कराके महाकवि ने कार्तिकेय को खड़ा कर दिया, ताकि असुरों का संहार हो सके। मैंने वक्षु की लहरों में बर्बर हूणों के रक्त से भीगी

तलवार धोई है, उस समय मैंने आर्यावर्त और दक्षिणापथ की असंख्य स्त्रियों और आबाल-वृद्धों के आशीर्वाद में महाकवि की अमर वाणी की ही झंकार सुनी थी। तुम जानते हो, महाकवि ने देश को गंभीर निद्रा में से जागरित कर दिया है। जिसने जीवन को इतना प्यार किया कि सौंदर्य को जनमानस में स्थापित कर दिया, जिसने यौवन की स्थूल वासनाओं पर त्याग और तप की उदात्त भावनाओं को प्रोज्ज्वल कर दिया, तुम उसकी आलोचना कर रहे हो? जिसने तर्क-पराक्रमी दिङ्नाग के दर्शन के खोखलेपन को अपनी जीवंत वाणी के उद्घोष से पराजित किया, उसीको तुम लांछन लगा रहे हो?'

'सम्राट!' महाकवि पुकार उठे, 'रहने दें, रहने दें। मेरी नौका छोटी है, मैं क्या महासमुद्र को पार कर सकता हूं? मैं तो बौना हूं सम्राट! उन ऊंचे फलों को कैसे छू सकता हूं!'

यह विनय! इतना बड़ा कवि। और ऐसी विनय! मैं पराभूत हो गया।

सम्राट ने कहा : 'विलंब हो रहा है महाकवि! वाहिनी गर्जन कर रही है। हूण फिर आ रहे हैं।'

'जाएं सम्राट!' महाकवि ने कहा, 'फिर असंख्य वन, पर्वत, नदियां लांघकर जाएं, ताकि आर्यावर्त की रक्षा हो सके।'

और सेना उमड़ने लगी। हाथी पर सम्राट चढ़ गए। तुमुल गर्जन होने लगा। ललनाएं युद्धगीत गाने लगीं। चारों ओर आवेश उमड़ने लगा। मैंने देखा, महाकवि शांत खड़े थे, किन्तु महाकवि की वाणी बनकर हिमालय गरजता था, पूर्व और पश्चिम समुद्र के बीच में पृथ्वी का मानदंड मानो पुकार रहा था। राक्षस-कुल-निधन पर

विजयध्वनि-सी झूमती आ रही थी। समुद्र, विंध्य, और नदी-नदी, पर्वत-पर्वत पुकार रहे थे। साक्षात् जगत्पिता और जगन्माता का पुत्र प्रकाश की रक्षा के लिए गरज रहा था। शाश्वत कमल पर बैठे सृजन के पिता ब्रह्मा को घेरकर भारत का अतीत स्तुति कर रहा था। नारी पुकारती थी। कौन कहता है कि मैं अबला हूं, और मैंने देखा कि सारी की सारी संस्कृति, अतीत, वर्तमान, भविष्य और पृथ्वी और आकाश, आलोक और अंधकार उस अभयंकर मंत्र से प्रतिध्वनित हो रहे थे।

जय ! जय ! गूंज उठा नया निनाद ! महाकाल का दिगंतों को प्रकम्पित करता घंटा बज रहा था।

मैं लेट गया। अभिभूत ! कैसी साधना थी यह ! मृत्युञ्जय कालिदास ! तुम्हारी जय !

समुद्र की ऊभचूभ फिर छितराने लगी। देखता क्या हूं कि लहरें उठीं और फिर विलीन हो गईं। कौन ?

धातुसेन ! सिंहल का राजा ! कैसा पागल हो गया है ?

'क्या हुआ ?' मैं पुकार उठा।

धातुसेन मुझे क्यों घूर रहा है ?

वह कह उठा: 'तू उस पवित्र आत्मा पर दोषारोपण कर रहा है? देख ! मैं हूं उसका मित्र ! तू नहीं जानता कि जब मैंने 'सेतुबंध' प्रारम्भ किया तब मुझे कालिदास ने ही साहस दिया था। उसके अतिरिक्त इतनी सामर्थ्य थी ही किसमें जो समुद्र पर सेतु बंधवा देता !' यह कहकर वह पागल-सा हंसा और बोला: 'मैं वेश्या के विलास में भूल गया था सब कुछ। कालिदास मुझसे रूठकर चला गया। उसने मेरा पतन देखा तो क्रुद्ध हो गया। वह उस वेश्या को समझाने गया जिसके

पीछे मैं पागल हो गया था। मुझे पता चला कि महाकवि खो गया था। उसकी याद में व्याकुल होकर मैंने वेश्या के द्वार पर एक श्लोक लिखना चाहा। पहली पंक्ति लिखी थी कि भाव टूट गया। दूसरी न लिख सका। वेश्या ने मेरी भाव-विह्वलता का कारण पूछा तो मैंने कहा कि मेरा श्लोक अधूरा रह गया है। मेरा कालिदास रूठकर चला गया है। उसके अतिरिक्त अब इसे कौन पूरा कर सकता है ? अगर कोई कर दे तो मैं एक लाख मुद्रा दे सकता हूं। मैं चला आया। वेश्या सोचती रह गई। दूसरे दिन कालिदास पहुंचे कि श्लोक दीखा। झट पूरा कर दिया। वेश्या ने सोचा कि कहीं वह एक लाख मुद्रा इसी व्यक्ति को न मिल जाएं। उसने उस महान व्यक्ति को छल से भीतर ले जाकर कत्ल करवा दिया।

मैंने देखा, एक चिता भयानक-सी जल उठी और अचानक ही धातुसेन 'कालिदास ! कालिदास !' चिल्लाता हुआ उस अग्नि में गिर गया।

सब शांत हो गया। केवल धुआं रह गया। मेरी आंखें आंसुओं से भर गईं।

किसीने सिर पर हाथ फिराया। सांत्वना हुई।

'कौन ?'

मुड़कर देखा।

'बकुलावलिके ! तुम ?'

'हां ! मैं ही,' वह मुस्कराई। 'जीवन के विषम क्षणों में सौंदर्य और प्रेम ही सांत्वना देते हैं। महाकवि मुझे यही आदेश दे गए हैं और मैं इन्हींका पालन कर रही हूं। विमद्दसुरही बउलावलिआ

वस्तु अहं। समझते हो न? मर्दन करने पर सुरभि देने वाली बकुलावलिका हूं—फूल हूं न?'

वह हंस दी।

कितना थक गया था मैं अब!

'तुम जाओ देवि! मुझे सोने दो!' मैंने कहा।

'सो जाओ!' वह मेरे सिर पर हाथ फिराती रही। कब मुझे नींद आ गई। कब चली गई वह, अब वह सब कुछ भी याद नहीं। जब आंख खुली तो देखा, दृश्य कोई और ही था।

मेरा अवकाश भी कितना व्यस्त है! अचानक प्रश्न उठा। जन्मांतर के बीच में क्या आत्मा भी दिक्काल में ऐसे ही भटकती फिरती है?

इतनी उड़ान और फिर वही घोंसला। महापुरुषों का जीवन देखता हूं। वे इस घोंसले से लड़ रहे हैं। मैं जानता हूं कि पृथ्वी और आकाश कहीं नहीं मिलते, लेकिन क्योंकि शून्य ही आकाश है, धरती आकाश से ही लिपटी रहती है। फिर हमारे जीवन में इतनी विषमता क्यों है?

'ओ अवदातिके! नीला कहां है?'

'वह है तो।'

'नीला की उदासी मिटा सकती हो?'

'स्त्री का वैषम्य कौन मिटा सकता है?'

'तो यह दुःख है क्यों?'

'स्त्री बालक को कितने स्नेह से जन्म देती है, पर बाद में जब वह बालक पति बनता है तो स्त्री को कितना कष्ट देता है!'

'फिर वह मां को क्यों चाहता है ?'

'क्योंकि मां उसे सब कुछ देती है।'

'पति को नहीं देती ?'

'देती है, परन्तु वह तो उसपर अपना अधिकार भी जताता है।'

'अच्छा ! जब पुत्र की स्त्री आती है तब क्या मां को सुख मिलता है ?'

'कहां मिलता है ?'

'क्यों नहीं मिलता ?'

'वह युवती से अनुरक्त रहता है। तब वह मां को भूल जाता है। सास और बहू में नहीं बनती।'

'क्यों ?'

'अधिकार के पीछे जो संघर्ष होता है।'

'कैसे ?'

'मां पहले घर की मालकिन होती है। बाद में बहू आती है। सबको छोड़कर आती है, इसलिए नये घर में अधिकार चाहती है। मां अपने अधिकार छोड़ना नहीं चाहती, इसलिए दोनों में झगड़ा होता है।'

'प्रायः जीत किसकी होती है ?'

'बहू की।'

'क्यों ?'

'क्योंकि पुरुष उसके यौवन के अधीन रहता है। वह उससे फायदा उठाती है। तब तक मां बूढ़ी हो चुकती है। उसकी शक्ति भी कम हो जाती है। काम भी नहीं कर पाती। बेटा मां को छोड़कर बहू

से अनुरक्त हो जाता है।'

'तो फिर स्त्री का जन्म और जीवन क्या है ? जब तक यौवन है, तब तक कदर है। जब उसके बेटे की बहू आएगी तो वह उसे निकालने की चेष्टा करेगी।'

'करेगी ही।'

'तो फिर परिवार स्नेह का आधार कहां रहा ? वह तो स्त्रियों के अधिकारों के संघर्ष की जगह है। अनेक युगों से लेखकों ने नियम बनाए हैं कि स्त्री इस प्रकार दबकर रहे, झुककर रहे, परन्तु मनु के युग से परिवार बंटते चले जा रहे हैं। परिवार में आधिपत्य कमाने वाले का रहता है और वह स्त्री जो उसका खिलौना बनती है, वह उसकी विश्वासपात्र गुलाम बनकर उसकी संपत्ति की स्वामिनी बन जाती है। परिवार में स्नेह फिर कहां रहा ?'

अवदातिका ऊब रही है।

'अच्छा ! क्या मेरा चिंतन विकृत है।'

अवदातिका नहीं कह पाती।

'नीला ! तुम ही कहो न ?'

'तुम स्त्री से द्वेष रखते हो ?'

'क्यों ?'

'क्योंकि तुम पुरुष हो !'

'पर क्या यह झूठ है जो मैंने कहा है ?'

मुझे उत्तर नहीं मिलता।

नीला एक आंधी-सी बनकर घहराने लगती है और फिर बिखर-बिखरकर गिर जाती है, धूलि, ढेर-ढेर धूलि······
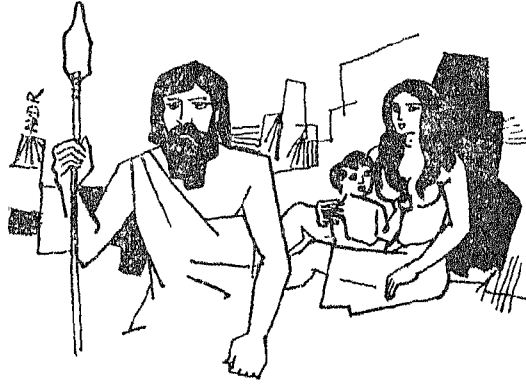
५

विदा

मेरी आंख खुल गई है। धूप अब सुनहली हो गई है। मोर ने ग्रीवा झुका ली है। दिन में जो पक्षी इतने व्यस्त-से दाने चुगते थे, कभी फुदकते थे, अपने जीवन का प्रत्येक क्षण मस्ती-सी में निकाल रहे थे, वे अब नीड़ों की याद में अनंत आकाश में पंख खोले उड़ चले हैं। सचमुच वे जहां उड़ रहे हैं, वह तो अनंत आकाश नहीं। पृथ्वी से तनिक-सी ऊंचाई है और उसमें तिरना जानकर भी वे प्रकृति के स्वामी बनने का प्रयत्न नहीं करते। फिर मनुष्य ही ऐसा क्यों करता है ?

मोर पैदा होता है, रहता है। धर्म है उसका कि वह अवसर

मिलने पर सांप को भी निगल जाता है। फिर दिन में घूमता है, फिरता है। सांझ आती है तो किसी पतली-सी टहनी को ढूंढ़कर उस-पर जा बैठता है। जब घटाएं आती हैं और बिजलियां चमकाकर गर्जन-तर्जन करती हैं, जब पपीहरा भीगेपन में अपनी पुकारों से हूक-सी भर देता है, तब वह चौंककर अपनी षड्ज स्वरी सुना देता है। जाड़ा हो या गर्मी, बरसात या वसंत, शरद् या हेमंत, मैं उसे कभी परेशान और व्यस्त नहीं देखता। फिर हम ही क्यों परेशान हैं?

मैं अधमुंदी-सी सुख-तृप्त आंखों से देख रहा हूं। सारा अनंत जैसे मेरी पलकों की छाया में थके हुए बटोही-सा सो रहा है। छायाएं लंबी हो गई हैं, जैसे प्रत्येक वस्तु के भीतर एक भय था, जिसका स्पर्श करके अनुभव नहीं किया जा सकता, परन्तु जो अपनी सत्ता के अस्तित्व को प्रकट करने लगा है। डूबते रवि को निगलती-ठेलती हुई जैसे आकाश-सिंधु में लहरें उमड़ रही हैं अंधकार की। और मैं अब भी ऐसे देख रहा हूं जैसे माया में लिप्त कोई व्यक्ति वेदांत का अध्य-यन कर रहा हो। यह संसार मेरे पूर्वजों के अनुसार एक मेनका जैसी अप्सरा है और मेरा साधना-रत मानस एक दुरभिमानी विश्वामित्र है, जिसे फिसलते देर नहीं लगती। लेकिन ये सब भाव-बंधन हमारी नैतिक मर्यादाओं के कारण ही तो बने हैं। महानता और लघुता की ये सीमाएं हमारी सरलता को दोनों ओर से लांघे हुए हैं। हम कब सहज बनेंगे।

यह सोचते-सोचते मुझे उन लोगों की याद हो आई है जिन्हें सोचने का समय ही नहीं है। वे या तो धन के अभाव से पीड़ित हैं, या धन की प्रचुरता से व्याकुल हैं। है ही कितनों में वह सरस भूमि

जोकि उसपर चल सकें ।

मेरे सामने फिर नीला आ गई है ।

मुझे ऐसा लगता है जैसे वह कांच के बड़े-से गिलास में रखी है । अब वह गिलास मेरे सामने घूमने लगा है ।

क्या यह नीला है ?

कमर पर बंधी है एक पशु की खाल । वक्ष खुला है । कितनी दमदार है ! कंधे पर हाल का मारा हुआ हिरन रखा है । कितना भारी है ! वह उसे हंसते-हंसते लिए आ रही है । उसके पीछे पुरुष है । पसीने से दोनों लथपथ हैं । पुरुष पर भी एक पशु का भार है । दोनों पहुंचते हैं, जहां कई स्त्री-पुरुष हैं और जानवरों को नीचे फेंककर वे बैठते हैं, खाल छीली जाती है, फिर गोश्त पकता है······तभी एक स्त्री एक बालक को जन्म देती है सबके बीच में, श्रद्धा और विस्मय से पुरुष स्त्री को सिर झुकाते हैं···वह देवी है···नीला···नीला देवी है···नीला अब काम कम करती है···पुरुष भागते हैं, अहेर करते हैं···वह घर पर रहती है···पर वह देवी है···।

कांच के गिलास में दृश्य बदलता है । पुरुष आते हैं । सूती कपड़े पहने हैं, चमड़े ओढ़े हैं । अब वे मानते हैं कि स्त्री एक खेत है । नीला मेरे सामने खेत-सी पड़ी है, उसमें से संतानरूपी फसल उगती है, काट ली जाती है, वह खेत-सी पड़ी रहती है । वह खेत कहीं जाता नहीं, आता नहीं, लेकिन फसल देने के लिए वह खाद मांगता है, रखवाली मांगता है···पुरुष परिश्रम करता है···।

कांच के गिलास में दृश्य फिर बदल गया है । नीला सोने के गहनों से लदी खड़ी है । पुरुष धन लाता है, वह उसके धन की मालकिन बन

जाती है। एक कुत्ता उधर बैठा भौंक रहा है, मालिक की संपत्ति की रक्षा के लिए। नीला भी उस सबकी रक्षा में लगी है। अब घेरे बंध गए हैं। एक और पुरुष आता है, पर खेत को वह जोत नहीं सकता। नीला कहती है : मैं किसीकी हूं। गुलामी का कैसा इज़हार है! पुरुष सिर झुकाकर कहता है, तू स्वामिनी है। दासी फूल उठती है। नीला के चारों तरफ नकली किरणें जाला बुन रही हैं। मुझे लगता है, वे बेड़ियां हैं।

नीला बंदिनी हो गई है।

मैं कहता हूं : नीला ! तू बंदिनी है।

वह कहती है : मैं स्वामिनी हूं।

मैं कहता हूं : नीला, तू पुरुष की दासी है।

वह कहती है : मैं उसकी रखवाली हूं।

मैं कहता हूं : तू पराये श्रम पर पलती है।

वह कहती है : मैं उसके श्रम के उत्पादन की रक्षा करती हूं।

मैं कहता हूं : नीला ! इससे समाज बंटता है।

वह कहती है : प्रेम बंटकर ही ठीक रहता है।

मैं कहता हूं : नीला ! दुनिया बहुत बड़ी है, इसमें बहुत काम हैं। क्यों तू दर्शन, चित्रकार, शासन, नेतृत्व इत्यादि में पीछे चली गई है !

वह कहती है : मैं जन्म देती हूं, मुझे उस सबके लिए अवकाश ही नहीं मिलता।

'तो तू इतना जन्म क्यों देती है ?'

'क्या करूं, मैं पुरुष का खिलौना बन गई हूं। पुरुष मुझपर

अत्याचार करता है। मैं स्वतन्त्र होना चाहती हूं। मैं उसके लिए सब कुछ छोड़कर आती हूं। उसे सब कुछ देती हूं। पर मुझे वह सुख नहीं देता।'

'सुख दूसरे के बल पर तो उतना ही मिल सकता है, जितना वह देना चाहेगा। क्यों नीला ! जीवन भर स्त्री-पुरुष के जोड़े मिलकर रहते हैं, क्या हमारा समाज यौन आधार पर ही नहीं टिका है ? तो क्यों स्त्री अपने यौन व्यापारों को इतनी प्रमुखता देती है ?'

'वह मजबूर है।'

'नहीं, वह आलसी है। कामचोर है।'

'कैसे ?'

'परमात्मा ने स्त्री को जननी बनाया है, पर इसलिए नहीं कि वह सदैव इस काम में ही अपने को खोए रहे। उसने अपने चारों ओर यह जाल जान-बूझकर फैलाया है क्योंकि उसने अपनी सुस्ती के कारण अपने को अपने द्वारा पैदा किए पुरुष पर फेंक दिया है। इसलिए, वह आश्रिता बन गई है और इसलिए वह मजबूर है। लेकिन अपने आराम के लिए उसने इस अपमानजनक अवस्था को भी स्वीकार कर लिया है।'

कांच के गिलास में एक आधुनिका खड़ी है। वह भी नीला है, पूछती : 'क्या स्त्री अबला है ?'

मैं कहता हूं : 'नहीं. वह सबला है। उसने काम से बचने के लिए यह छल कर रखा है। उसने अपनी ज़िम्मेदारियों को छोड़ा है, मेहनत और मुसीबत से बचने को। उसने बौद्धिक जीवन छोड़ दिया है, कमा-कमाया धन भोगने को। बड़ी महंगी गुलाम है वह।'

'छिः ! क्या कहते हो ? तुम विकृत हो ! तुम बोझ उठाने से डरते हो।'

'बोझ किसका ? व्यक्तियों के संकुचित घेरे का या व्यापक समाज का नीला ? इस पितृसत्ता ने तुम्हें चालाक गुलाम बना लिया है और पुरुष इसमें स्वामी बनकर भी पिस रहा है, क्योंकि जिस समाज में कोई गुलाम रखता है उसमें संतोष हो ही नहीं सकता।'

'तुम स्नेह और मानवीय भावनाओं को कुचलना चाहते हो, पातिव्रत की पवित्रता को नष्ट करते हो ?'

'बिलकुल नहीं। स्नेह घर में ही नहीं, सबमें हो। मानवीय भावना तब सत्य है जब लोक से असाम्य हटे। पातिव्रत स्त्री की मजबूरी नहीं हो। वह है उसका जननीत्व का अभिमान। वह स्वयं अपना दायित्व समझे, अपने गौरव का अनुभव करे।'

कांच में अब नीला नहीं है।

वह कहां गई ?

वह अपने नये रूप में क्यों नहीं आई ?

ओ मेरे मन ! यह कैसा विचित्र द्वन्द्व है। इस सतह पर चलने वाले चले जा चुके हैं। पुस्तकों की इन ढेरियों को मैंने पढ़ डाला है। आर्य, यहूदी, अरब, ईसाई, और न जाने कितनी जातियों के उत्थान-पतन और सुख-दुःखों का मैं साक्षी बन चुका हूं। मुझे ऐसा लग रहा है जैसे काल का समुद्र निरंतर गरज रहा है। उसमें जो भी गिरता है,

वह उसके खार में गल जाता है। छोटे-छोटे कीड़े अपने पास की मिट्टी को इकट्ठा करके अपने छोटे-छोटे शंख-सीपी बनाकर उनमें छिपे रहते हैं। ऐसा ही तो मोह है जीवन का। वे कीड़े नष्ट हो जाते हैं, सीपी-शंख कुछ अधिक दिनों तक के लिए बचे रहते हैं। लहरें कुछ दिन उन्हें किनारे पर पड़ा रहने देती हैं और फिर किसी दिन सब कुछ उसी अतलांत अंधकारमय समुद्र-गर्भ में जाकर विलीन हो जाता है। यही तो इन पुस्तकों का भी इतिहास है। कुछ अधिक जीवित रहने वाले सीपी-घोंघों के छिलके की भांति ही तो हैं ये। ये भी क्या बची रह जाएंगी ? इनका मूल्य भी तब तक है, जब तक ये समझ में आ जाती हैं। उसके बाद ? कागज़ पर ये रेखाएं वैसी ही अपाठ्य हो जाती हैं जैसे नरकपाल पर खिंची हुई ललाटलिपि कही जाने वाली रेखाएं।

इसीलिए मुझे लगता है जैसे यह आकाश झुक नहीं रहा है, यह कोई युगांत की नींद से व्याकुल पलक झपकती आ रही है, इसमें तारा बनकर जो सूर्य चमक रहा था, वह अंधेरी बरौनियों में छिप गया है। मैं भी अगर अपनी इच्छा से छिप सकूं तो ! मगर ऐसा नहीं होगा। मैं किसी विराट नाटक का एक छोटा-सा, बहुत छोटा-सा, छोटे से छोटा-सा पात्र हूं ! हूं ! या मुझे लग रहा है कि मैं अपने अलगाव के कारण हूं !

मैं क्या जानूं ! मुझे तो कुछ भी नहीं मालूम। किसलिए जीता हूं, मुझे नहीं मालूम। किसलिए मुझे इच्छाएं चलाती हैं, मुझे नहीं मालूम। मेरी वेदना किस लेए मुझे महसूस होती है, मुझे नहीं मालूम। मुझे सचमुच कुछ भी तो पता नहीं। मैंने स्नेह किया तो उसे भी भ्रम

ही कहा गया । मैं कितनी ऊंचाई पर चढ़ूं कि मुझे अपनी नीचाई भी ऊंचाई-सी मालूम देने लगे । संयम का अहं मैं कहां छोड़ दूं ! स्खलन की ग्लानि को मैं कहां हटा दूं ?

कोई बोलो । इस सुनहली धूप में मुझे एक बार तो थोड़ा-सा संतोष दे दो ! या ऐसे ही जीवन भर मुझे भटकते रहना पड़ेगा ! किसे ! मुझे !! फिर वही 'मैं' !

यह विचार क्या मेरी अहम्मन्यता का ही फल नहीं है ! मुझसे पहले न जाने कितने लोग हो चुके हैं, जिनकी अनुभूति वहुत ही तीव्र रही है ! और शायद अब भी ऐसे मौजूद हैं, जो उनको अभिव्यक्ति देने की मेरी जैसी लघुता का भी प्रदर्शन नहीं करते ।

तो क्या मैं लघु हूं ! लघु तो हूं ही । इस विराट के ज्यों-ज्यों दर्शन प्राप्त होते हैं, मेरा 'मैं' अपने आप अपना छोटापन अनुभव करता चला जाता है । कैसे अज्ञान के सुख में सुखी थे वे लोग जो अपने को बड़ा अनुभव करते थे, क्योंकि उनके देवता छोटे थे । मेरे देवता का जितना रूप बढ़ता जाता है, मैं उतना ही छोटा होता चला जाता हूं । फिर भी मेरी लघुता क्या साधारण है जो इतनी विराटता का अनुभव तो कर लेती है !

ओह ! मैं अपने आपको खो देना चाहता हूं । मन कहता है— क्या तू अब खोया हुआ नहीं है ! अब भी तो तेरी सत्ता कुछ नहीं है । और सचमुच यह विचार भी कितना विचित्र है कि मेरी सारी महत्ता केवल मेरे भ्रम में सीमित है ! अलौकिक की बात भी यदि छोड़ दी जाए, मानव के सुख-स्वार्थों की परिधि में ही देखा जाए, तो भी मैं क्या हूं ! मेरे बिना कोई भी काम नहीं रुकता ।

लेकिन यह पक्षी कभी नहीं सोचता कि उसके बिना कुछ बनता है या बिगड़ता भी है। इसे इन बातों से क्या मतलब ! तब मैं ही क्यों सोचूं !

महाप्रस्थान के पथ पर जो तीर्थयात्री अपने पद-चिह्नों को छोड़ जाने के मोह में पीछे मुड़-मुड़कर देखता है, वह क्या अपने दिव्याराध्य से कभी भी तादात्म्य कर पाता है ! जिस पथ पर आंधियों ने डेरे डाल रखे हैं, जहां तूफानों के तबादले होते हैं, वहां वह छोटा-सा पद-चिह्न बचा भी रह गया तो क्या हुआ ! बाद में उस निशान की पहचान भी क्या ! इस विराट सृष्टि में काल एक विराटतम ऊर्जा है। उसकी एक खंडकला है सूर्य और हमारा संबंध। उसकी बिसात ही क्या ? और यह काल जो हमें सूर्य-संबंध में ऐसा दीख रहा है वह अपने अन्य सूर्यों और ग्रहों-उपग्रहों के संबंध में जाने कैसा है ! और तब ही एक गिलगिलिया बोल उठती है—अरे क्यों तू चिंता करता है। वह देख ! पीले फूल पर तितली कैसी फरफर कर रही है !

आह ! रस पीने का आनंद भी कितना अलौकिक है !

मुझे लग रहा है कि यह जो तटस्थ होकर सबको ही नहीं अपने आपको भी देखना है, यह बड़ी ही कठिनता से प्राप्त होने वाली एक अनुभूति है। इसका प्रादुर्भाव तो संध्या के अकेले तारे की तरह होता है, लेकिन देखते ही देखते इसमें आकाश का महाशून्य असंख्य तारों से भर जाता है, जैसे किसी वृक्ष पर बहुत-बहुत-से फूल निकल आए हों, जैसे वह कोई जादू का पेड़ हो, जिसकी छायादार सघनता तो दिखाई देती है, किंतु न तना दिखाई देता है न जड़।

हवा ठंडी हो चली है। कितना हल्का हो गया है मेरा मन।

आज सारे दिन कोई काम नहीं किया है, आज मैं जिया हूं। आज मैंने महासृष्टि के स्पंदनों से अपना तादात्म्य किया है।

अचानक ही मेरे पास कोई हंस उठी है।···कौन ?

'अरे, तुम कल्पने !'

'हां, मैं ही तो हूं।'

'तुम हंसी क्यों ?'

'तुम्हारी सरलता देखकर।'

'कैसे ?'

'क्या सोच रहे थे तुम ? यही कि तुमने कोई काम नहीं किया ?'

'हां, सच ! आज मैंने कुछ भी नहीं किया।'

'आकाश और पाताल तक तुमने मुझे घुमा दिया। देखते नहीं, मैं कितनी थक गई हूं। फिर भी कहते हो, कुछ नहीं किया।'

'हां कल्पने ! तुम्हारी असीम व्यापकता से मैंने आज स्वाधीन होकर एकात्मता स्थापित की है। थकान तो तब आती है जब किसी फल की आशा करके मनुष्य कोई कार्य करता है। जहां आसक्ति समाप्त हो जाती है, वहां थकान कहां ? विश्राम आलस्य नहीं, मन का आनंद प्राप्त करना है। वह क्या मैंने नहीं पाया !'

कल्पना अवाक् होकर मुझे देख रही है। आज मैं मुक्त हूं··· आज मैं जो हो गया हूं वह मेरी स्वतंत्रता का पहला आभास है···

इसलिए अब मैं नीला को लिखता हूं, सुनो ! जीवन व्यस्त बनाया जाता है, और बाद में आदत पड़ जाने पर वह मजबूरी बन जाती है। तुम जीवन को फिर से शुरू करो लेकिन यह मत करो कि अपने यौन जीवन के बल पर जियो। उस मांसल स्थूल संबंध को अच्छे-अच्छे

दार्शनिक नाम देकर छिपाने की कोशिश मत करो। तुम अपनी गैर-जिम्मेदारी, कामचोरी को छिपाओ मत। आगे आओ।

न तुम संन्यासिनी बनो, ताकि यौन जीवन से विरक्ति दिखाकर लोगों को प्रभावित कर सको। न तुम वेश्या बनो कि उसीके बल पर जियो। प्रेम के नाम पर जो विवाह नाम की गुलामी तुमने इसलिए मंजूर की थी कि घर बैठी मौज उड़ाओ, उस महंगी गुलामी का दस्तावेज़ भी तुमने अपने यौन जीवन के आंचल पर ही लिखा था। कुछ सम्मानित जीवन बिताओ। इस पितृसत्ता के संबंध झूठे हैं, नकली हैं, व्यक्तित्व के विकास पर बोझ हैं, समाज में घृणा पैदा करते हैं। तुम जबर्दस्ती किसीका प्रेम चाहती थीं क्योंकि तुमने दो-चार चक्कर आग के लगा लिए थे ? अब स्टोव के चक्कर लगाकर, तुम नई चाय बनाकर पियो, लेकिन चीनी अपने मन की मिलाओ, किसी दूसरे के मन की नहीं। बस, इतना समझ लो। फिर कोई समस्या नहीं है। आज़ादी की भीख मत मांगो, उसे स्वयं लो। तुम्हारी आज़ादी से औरों को भी आज़ादी मिलेगी। जब तक तुम गुलाम रहोगी, तब तक पुरुष तुम्हारे लिए बैल बना रहेगा, और बैल बनेगा तो तुम्हें भी वह सताने की चेष्टा करेगा ही····

जीवन इतना व्यस्त है नहीं, जितना बना लिया गया है···उसे आज़ाद करो···

सुनो···मैं छुट्टी का राजा हो गया हूं···